Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 16 अंक 2 जुलाई, 2002

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सह-सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान,
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 16 अंक 2 जुलाई, 2002

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सह-सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान,
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302004
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल - 462003
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
दूरभाष 515693
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
दूरभाष 294737 / 293725

सहायक-संपादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर - 258881 (म. प्र.)
2. (सुश्री) सरला कल्ला, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर - 302004
दूरभाष 200297

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 40/-
संस्थाएं — रु. 60/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 400/-
संस्थाएं — रु. 4000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुक्रमणिका

1.	आत्म-चिन्तन	— यशदेव शल्य	125
2.	धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में उपेय विचार	— मुकुन्द लाठ	141
3.	अद्वैत वेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्याएँ	— दयाकृष्ण	171
4.	कोटियां और कांट	— राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	187
5.	श्री यशदेव शल्य के दर्शन का वैशिष्ट्य	— अम्बिकादत्त शर्मा	203
6.	'सावित्री' और श्री अरविन्द	— रमेशचन्द्र शाह	213

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्म-चिन्तन

यशदेव शल्य

चेतना में आत्मा की प्रतीति उसके आत्म-चेतन होने पर आविर्भूत होती है। आत्मचेतन हुए बिना चेतना में आत्मा की प्रतीति की कोई सम्भावना ही नहीं बनती। किन्तु एक अप्रकट अहंभाव जीवमात्र में रहता है ऐसा जीव मात्र की वैयष्टिकता से अनुमान किया जा सकता है, जिसकी विद्यमानता कम से कम जीव के दैहिक स्तर पर प्रत्यक्ष लक्षित होती है। इसे अतिक्रामी अहंकार भी कहा जा सकता है : 'अतिक्रामी' शब्द का काँट के 'ट्रांसेंडेंटल' शब्द के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग करते हुए : क्योंकि यह जीव के अस्तित्व की ही वैयष्टिकता का पूर्वनिर्धारक होता है। आत्म-भाव की आत्मचेतन प्रतीति अत्यन्त विचित्र प्रकार की होती है। यह आत्म-भाव की विषयी रूप में प्रतीति होती है, किन्तु इसमें विषयता भी रहती है। किन्तु यह विषयता अन्य विषयताओं से इस आधारभूत रूप में भिन्न होती है कि यह विषयी से अभिन्नवत् आभासित होती है। शंकराचार्य ने अनात्म में आत्मा के अध्यास के विवेचन के प्रसंग में आत्मा को नितान्त अविषय मानने पर उस पर अध्यास की बात को समस्यात्मक पाते हुए इस समस्या के समाधान के लिए आत्मा के विषयत्व को भी स्वीकार किया—नायमात्मानितान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्यय गोचरत्वात्,[1] किन्तु इस 'विषय' के आविर्भाव और इस आविर्भाव के कारण इसके स्वरूप के वैचित्र्य को लक्षित नहीं किया। चेतना के आत्म-अचेतन होने : आत्मा विषयक चेतना से रहित होने : का अर्थ है चेतना का विषयभाव में लीन रहना। यद्यपि उस अवस्था में चेतना में विषयता भी स्फुट नहीं रहती, केवल जैव प्रेरणाएँ और वासनाएँ ही विषयिभावेन रहती हैं। किन्तु ये प्रेरणाएँ पूर्णतः बाह्याभिमुख ही होती हैं। कहा जा सकता है कि चेतना का आद्यभाव यह बाह्याभिमुखता ही होती है। चेतना में कोई आन्तरता या अन्तराभिमुख्य भी हो सकता है इसका पता इसमें आत्मचेतनता के आविर्भाव से ही चलता है। इस प्रकार चेतना का आत्म-चेतन होना स्वयं चेतना के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना है। इस घटना से चेतना में द्रष्टा और दृश्य रूप एक अन्तर्विभाजन घटित होता है जिससे द्रष्टृ दृश्य को अपने से पृथक् पहचानता है। अविभक्त दशा में

---

1. ब्रह्मसूत्र : शांकर भाष्य : उपोद्घात। इस पर हमारी टिप्पणी, उन्मीलन, जनवरी, 1999 अंक।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दृश्य चेतना की वृत्ति के एक पक्ष के जैसा ही रहता है। इस अविभक्तता की पराकाष्ठा पौधे और सूर्य किरणों के सम्बन्ध में देखी जा सकती है। इस प्रकार चेतना का आत्म-चेतन होना उसकी विषय-भाव से मुक्ति का आरम्भ होता है, यद्यपि विषय को भी आत्म-लाभ इसी से मिलता है। अब चेतना विषय का विषयकरण कर उसे अपने से पृथक् और स्वयं को विषय से पृथक् स्थापित कर पाती है। विषय के इस प्रकार पार्थक्य के बिना विषयी के पार्थक्य का भी कोई अर्थ नहीं बनता। किन्तु विषय से पृथक् उसकी स्वयंता की स्थिति या उसका रूप बड़ा विचित्र और समस्यात्मक होता है। यह स्वयंता विषय से पृथक् स्वयं अपने ग्रहण में भी अन्तर्विभक्त हो जाती है। एक ओर यह विषय से पृथक् नितान्त विषयी रहती है और दूसरी ओर यह विषयता के सारे लक्षणों से भी मंडित हो जाती है। यह अपने विषय के समान ही पद-वाच्य और व्यावर्तकता के लक्षणों से युक्त होती है। किन्तु इसकी यह व्यावर्तकता अपने से भिन्न सबकी ही व्यावर्तक होती है। मैं एक ओर वही हूँ जो मेरा अनन्य स्व है (स्वयंसिद्ध और स्वयं से और स्वयं में गम्य) किन्तु दूसरी ओर मैं 'मैं' पद-वाच्य भी हूँ जो पद सामान्य वाचक है और मुझे उतना ही अपना वाच्य बनाता है जितना किसी भी अपने में अनन्य अन्य को। किन्तु मेरे लिए अन्य मदेतर ही होता है और 'मैं' से भिन्न पद-वाच्य होता है। उसके वाचक पद 'तू' और 'वह' होते हैं। किन्तु 'मैं' पद के सामान्यवाची होने से यह पद 'तू' और 'वह' से विनिमेय भी हो जाता है और इस प्रकार इससे समाज की संभावना बनती है। यह अपने में अनन्य 'मैं' पद-वाच्य अपने को प्रस्तुत कर्तृ, द्रष्टृ और भोक्तृ होता है और इस प्रकार प्रस्तुत होने से स्वयं अपने लिए मननीय और सर्वसामान्य रूप से विचार्य, विवेच्य और विमृश्य होता है। इस आत्मा को बहुत से दार्शनिक आनुभविक कहते हैं, सांख्य, वेदान्त और महायानी बौद्ध प्राकृतिक या व्यावहारिक कहते हैं। यों इस आत्मा का यह आयाम भी है, यह स्पष्ट ही है। मनुष्य का बाह्य लोक इसी से प्रवर्तित होता है और यह स्वयं इस लोक का सापेक्ष होता है। यह विषय-सापेक्ष विषयिभाव होता है। किन्तु यह सापेक्ष विषयिभाव केवल बाह्योल्लेखी ही नहीं होता आत्मोल्लेखी भी होता है। आत्म-प्रत्यय आत्मा को गोचर बनाता है, किन्तु इसमें गोचर वह आत्मा ही बनता है जो इस गोचरता के द्वारा अपने को अगोचर रूप में भी प्रतिष्ठित करता है। द्रष्टव्य है कि गोचरता में यह सापेक्ष भाव चेतना के आत्मचेतन होने पर ही संभव होता है और इसमें यह अपेक्षा विषयी से विषय की ओर उन्मुख नहीं होती बल्कि विषय से विषयी की ओर उन्मुख होती है। बाह्योन्मुखता चेतना मात्र का स्वभाव है। हेनरी बर्गसाँ ने सहज प्रवृत्ति के जिस सहज और सम्यग्ज्ञान का इतना गुणगान किया है वह सम्यक्ता चेतना की निश्शेष बाह्योन्मुखता के ही कारण सम्भव होती है। इसके विपरीत आत्मचेतन चेतना बाह्य को अपने से सापेक्ष बाह्यता में स्थापित कर अपने निरपेक्ष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मूल की ओर उन्मुख होती है। 'यह पत्थर है' में 'यह' पद पत्थर की विधेय रूप में वक्ता या दर्शक से बाहर प्रतिष्ठा का वाचक है और इसकी यह बाह्यता वक्ता या दर्शक की सापेक्षता में होती है। विषय की यह बाह्य प्रतिष्ठा वक्ता की विषयी के रूप में आत्मज्ञप्ति के बिना संभव नहीं होती। यद्यपि चेतना की यह आत्म-ज्ञप्ति ज्ञप्त चेतना को भी प्रत्यय-गोचर बाह्य विषय रूप में ही प्रतिष्ठित करती है और 'गोचर' आत्मा के रूप में उसे एक प्रकार की वस्तुता देती है, किन्तु यह केवल अपनी अशेष आन्तरता को ही उल्लिखित करने के लिए, क्योंकि अन्यथा आत्म रूप में गोचर यह विषय कर्त्ता, द्रष्टा, भोक्ता रूप में ही अपने को ज्ञप्त होता है और इस प्रकार यह अपने को विषय के विषयी के रूप में ही पहचानता है, यद्यपि इसकी यह पहचान इसे विषयता भी दे देती है। किन्तु क्योंकि यह गोचर आत्मा चेतना के प्रत्यङ्मुख प्रवर्तन से और चेतना द्वारा विषय के बहिष्कार से आत्मोपलब्धि के प्रयत्न के फल रूप में उपलब्ध होता है इसलिए यह विषय रूप में पर होने पर भी आत्मा का ही आत्म-परत्व होता है, इन्द्रिय-विषय, इच्छा-विषय या विचार-विषय के समान स्वतन्त्र परत्व नहीं होता। ऐसा भी कह सकते हैं कि यह परत्व आत्मा अपने को जानने-समझने, अपने स्वरूप का परामर्श करने और अपने स्वरूप पर मनन करने के लिए ही अपने में उत्सर्जित करता है। किन्तु थोड़ा ध्यान से देखा जाए तो आत्मा का यह संपूर्ण आत्म-व्यापार चेतना के आत्मचेतन होने के साथ ही आविर्भूत होता है और यह व्यापार ही आत्मा के आत्यन्तिक अविषय रूप का हेतु बनता है। जैसा कि हमने पीछे देखा, पर-आत्मा (गोचर आत्म) चेतना की परोन्मुखता के क्रम में नहीं आत्मोन्मुखता के क्रम में उद्भूत होता है—'यह पत्थर है (जो मैं देख रहा हूँ)' इस प्रतिज्ञप्ति में चेतना विषयपरकता के साथ आत्मपरक भी है। यह आत्मपरकता ही 'मैं देख रहा हूँ' को भी विषय रूप में प्रस्तुत कर विषयी द्रष्टृ की ओर उन्मुख होती है। इस प्रत्यङ्मुखता में चेतना अपनी विषयिता को जानने के प्रयत्न में अपनी विषयता को ही प्राप्त कर सकती है, यद्यपि इसकी इस विषयता के साथ इसकी विषयिता भी प्रकाशित रहती है। विषयिता का यह आत्म-प्रकाशन प्रकाशक चेतना के प्रत्यङ्मुख स्वरूप को ही द्योतित करता है, जिसका अर्थ है कि चेतना आत्मा को जिस प्रत्यङ्मुखता के व्यापार के फल रूप में आत्म-गोचर पाती है वही व्यापार इसकी अतलता या अनन्तता प्रकट कर इसके लिए विषयी आत्मा को अनुपलभ्य बना देता है। किन्तु यह अतलता विषयी को अनुपलभ्य रखकर आत्म-प्रस्तुति के लिए अनवगाह्य अर्थ-सम्पदा को संभव बना देती है। मनुष्य की सभ्यताओं और संस्कृतियों का संपूर्ण अर्थ-संभार—विज्ञान, यंत्र, वाणिज्य, काव्य, दर्शन, धर्म और कलाएँ सब—चेतना की प्रत्यङ्मुखता में उद्घाटित इस अतलता के ही प्रतिफल हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह आत्मा और इसमें आविर्भूत ये अर्थ चिन्मूलक होने से यह नहीं समझना चाहिए कि ये काल्पनिक होते हैं। इनके सम्बन्ध में यह एक बड़ी विचित्र बात है कि ये चिद्गत होने पर भी निरपेक्ष सत् होते हैं और ज्ञान के लिए ये केवल ईषद्ग्राह्य ही होते हैं। इसका स्पष्टतम उदाहरण विचार-विषय प्रस्तुत करते हैं। हम जो भी विचार करते हैं उसका कोई विषय होता है। इस विषय की विचार से स्वतन्त्रता दो प्रकार से प्रकट होती है। एक तो इस प्रकार कि विचारक उस विषय के सम्बन्ध में भ्रान्त हो सकता है और दूसरी इस प्रकार कि वह विषय विचार के कितने भी प्रयत्नों के लिए अशेषत: गम्य नहीं हो सकता। द्रष्टव्य है कि यह व्यापकता इन्द्रिय-गोचर विषयों में भी होती है। इस व्यापकता का एक पक्ष देशात्मक और कालात्मक होता है और दूसरा पक्ष प्रत्ययात्मक, जैसा कि बहुत प्राचीन काल में ही दार्शनिकों ने देख लिया था और उसे 'विकल्प' नाम दिया था। किन्तु भ्रांतिवश इन विषयों के चेतना में ज्ञापक रूप : विकल्प : को असत्प्रापक और इस प्रकार इन विषयों को असद्रूप ही देखा गया। किन्तु यह नहीं देखा गया कि कोई भी अर्थ अपने यथात्व को तभी प्राप्त करता है जब वह आत्मचेतन चेतना में, या कहें अन्तर्विभक्त आत्मोल्लेखी चेतना में विषय-रूपता प्राप्त करता है। इस प्रकार विषय की स्वतन्त्र वस्तुता या स्वतंत्र विषयता और इन वस्तुओं या विषयों की अनवगाह्यता और अनाकलनीयता चिद्गत अर्थों की ही गहनता और व्यापकता होती है। अब यह कैसी विचित्र स्थिति है कि चेतना स्वयं ही ऐसे अर्थों को जन्म देती है जो उसी के लिए इतर और अनवगाह्य बनते हैं! इनकी इतरता इस सीमा तक पूर्ण होती है कि इनके सम्बन्ध में हम पूर्णत: अनभिज्ञ अथवा पूर्णत: भ्रान्त हो सकते हैं, यद्यपि इनकी अभिज्ञता अथवा इन विषयक भ्रांति का निवारण भी इन विषयक विचार से ही होता है। तब क्या इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि आत्मचेतन चेतना स्वरूपत: ही दो स्तरों पर उपचरित होती है—गोचरता का स्तर और अगोचरता : अतिक्रांतता : का स्तर? यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि यह प्रतिपत्ति इन्द्रिय-गोचर विषय-जगत् पर लागू नहीं होती। साथ के कमरे में क्या-क्या पड़ा है, भोर का तारा और सन्ध्या का तारा एक ही हैं या दो हैं आदि तथ्य बाहर वस्तुपरक गवेषणा से ही जाने जा सकते हैं। यह सही है, किन्तु किस रूप में, इस पर हम 'सत् की चिन्मयता' लेख में विचार कर आये हैं।[2] इसलिए यहाँ केवल इतना कहना ही अपेक्षित है कि इनमें भेद चिद्वृत्तियों में ही स्वरूप-भेद के कारण होता है। एक चिद्वृत्ति इन्द्रियात्मक है, दूसरी बुद्ध्यात्मक। यह भेद चिद्वस्तुविषयकता और अचिद्वस्तुविषयकता का नहीं है।

---

2. उन्मीलन, जुलाई, 2001

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जैसाकि हमने पीछे देखा, आत्मा भी एक विषय है, यद्यपि इन सब विषयों से भिन्न। इसकी भिन्नता इस बात में ही नहीं है कि यह विषय होने के साथ विषयी भी है और इसकी विषयता अन्य विषयों के समान इतरता के सब लक्षणों से युक्त होने के बावजूद यह विषयेतर स्वयंता भी है, बल्कि इस बात में है कि यह आत्म-प्रत्यय है इसलिए यह विषय है और गोचर है किन्तु इसकी प्रत्ययता आत्मा विषयक है इसलिए यह आत्मा के अपने को अपने लिए अवगम्य बनाने के प्रयत्न से सृष्ट है, जो आत्मा अन्यथा अनवगम्य ही नहीं अन्यथा असत् भी है। नितान्तेन अविषय आत्मा प्रत्यय के आश्रय से आविर्भूत गोचर आत्मा का ही युग्मज होता है, ये दोनों परस्पर के बिना नहीं हो सकते।

यह आत्म-युग्म अपने अविषय पक्ष में अपने प्रत्यय-गोचर पक्ष को अतिक्रांत अतलता में प्रतिष्ठित कर उसे अतलान्त गहराई और अनन्त विस्तार दे देता है और अविषय पक्ष में अप्रतिष्ठ रहकर अपनी प्रतिष्ठा की अभीप्सा में अपने लिए अनन्त रूप से अन्वेष्य बना रहता है। आत्म-प्रतिष्ठा का यह अन्वेषण यद्यपि इस कारण से असाध्य और असंभव है क्योंकि यह स्वरूपत: ही अप्रतिष्ठ है किन्तु इसकी इस अप्रतिष्ठा का हेतु इसकी आत्म-सर्जकता होने से यह अपनी इस स्रोत-स्वरूपता में अपनी प्रतिष्ठा देख सकता है।

अब तक के हमारे विवेचन में आत्मा के 'आविर्भाव' और उसे अप्रस्तुत अर्थों के 'आविर्भाव' की बात की गई। इसमें अर्थों की अनवगाह्यता और अनाकलनीयता की बात भी आयी। किन्तु इसके हेतु की व्याख्या नहीं हो पायी। जो अर्थ, अस्मत्प्रत्यय सहित, चेतना में प्रत्यङ्मुख अवलोकन : आत्मावलोकन : के फलस्वरूप आविर्भूत होते हैं वे इस अवलोकन के लिए अनवगाह्य क्यों हों, इसकी व्याख्या असंभव सी ही प्रतीत होती है। यदि यह कहा जाय कि चेतना के लोकावतरण का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि यह इस अवतरण में अपने से न्यून ही रहती है, जैसा कि हमने अन्यत्र अनेक स्थानों पर देखा है, तो यह व्याख्या नहीं हुई, यह विवरण मात्र हुआ। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि अर्थों का यह स्वरूप चेतना के लोकावतरण के क्रम में नहीं बल्कि लोकातिक्रमण के क्रम में, उसके आत्मोन्मुख निवर्तन के क्रम में आविर्भूत होता है। चित्रकार द्वारा निर्मित चित्र अपने आदर्श रूप से न्यून इस कारण नहीं होता कि चित्रकार चित्र के आदर्श रूप को उसकी संपूर्णता में 'देख' नहीं पाता या देखकर उसे अपनी कृति :चित्र: में कार्यान्वित नहीं कर पाता, बल्कि यह कि चित्र का न्यून और अन्यून : आदर्श : दोनों पक्ष या रूप युगपद्रूप से चेतना के प्रत्यङ्मुख लोकातिरोहण में ही आविर्भूत होते हैं और इस कारण दोनों युग्मज ही होते हैं। इनमें अन्तर यह होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है कि प्रत्ययों के आदर्श रूप चेतना में प्रत्यङ्मुखता की पार्यन्तिकता के गोचर होते हैं जबकि न्यून उसकी विषय-वृत्तिकता के गोचर। यहाँ कुछ स्पष्टीकरण की अपेक्षा प्रतीत होती है। 'प्रत्यङ्मुखता की पर्यन्तता' अनन्त है और इस अनन्तता का कारण चेतना की विषयता से विषयिता की ओर उन्मुखता है। इस उन्मुखता के विषयिपरक होने से इसमें गोचरता के लिए अवकाश नहीं हो सकता। यह सही है, किन्तु विषयिता की पार्यन्तिकता का हेतु प्रत्यङ्मुखता में विषयी का अनुक्रमशः विषय होना और इस विषय का अपने ऊर्ध्वतर विषयी का अपेक्षी होना ही बनता है। इस प्रकार पार्यन्तिक विषयिता चेतना की ऐसी प्रत्यङ्मुखता है जो आत्मविषयकरण-जन्य सोपान से संभव होती है। यह विषयता आत्म-प्रत्यय की ही विषयता होती है, जो प्रत्यय इस प्रकार स्वयं पार्यन्तिक और इस कारण पार्यन्तिक विषयिता का गोचर बनता है। 'पार्यन्तिक गोचरता' का अर्थ 'अतलता में अगोचर होती गोचरता' ही समझना चाहिए। इस सोपान-क्रम में प्रत्येक सोपान पर्यन्तगामी अगोचर अन्यून या आदर्श की अपेक्षा से न्यून बनता है। इसी कारण अनात्म चेतन चेतना के लिए न्यून-अन्यून का भेद नहीं रहता, उसमें केवल दैहिक अपेक्षा और दैहिक पूर्ति का ही भेद रहता है : जैसे भूख से भोजन का कम रहना। इसके विपरीत अपने आदर्श रूप से न्यून चित्र अपने अलौकिक अन्यून रूप का ही रूपायन होता है। यह सही है कि यह रूपायन अपने मूल अन्यून रूप में एक आधारभूत रूपान्तरण घटित होने से ही संभव होता है—इसमें अतिक्रामी अरूप (तत्त्व) रेखा-वर्ण आदि में रूपित होता है किन्तु इससे वह अपने अतिक्रामी स्वरूप से पूर्णत: विच्छिन्न नहीं होता। यह उसकी असंख्य में से एक संभावना को व्यक्त करता है, जबकि शेष संभावनाएँ संभावनातिक्रामी स्रोत में अव्यक्त रहती हैं। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, यह अतिक्रामी और लौकिक का विभाग चेतना के आत्मचेतन होने से ही आविर्भूत होता है, इससे पृथक् इसकी अन्य कोई प्रतिष्ठा नहीं है। अर्थात् ऐसा नहीं है कि आदर्श अतिक्रामी प्रत्यय किसी अन्य सत् लोक में अवस्थित रहते हों। **केनोपनिषद्** में जो ''यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते'' आदि मंत्रों में कहा गया है वह ऐसे पृथक् अतिक्रामी, शुद्ध चित्-लोक को मान कर ही कहा गया है। यह हमारे प्रतिपादन के अनुरूप नहीं है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि औपनिषद ब्रह्म भी जगत् से पृथक् नहीं है, उद्धृत वचनों में भी ब्रह्म की पृथक्ता अभिप्रेत नहीं है बल्कि हेतुता ही अभिप्रेत है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी इसमें और हमारे प्रतिपादन में भेद है। हमारा प्रतिपाद्य अतिक्रामी सत् आत्मा या अहंप्रत्यय-गोचर अहं का और तद्द्वार से जगत् का हेतु कोई तत्त्व नहीं है बल्कि प्रत्यय-गोचर आत्मा की ही अपनी अतिक्रामिता है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिस प्रकार प्रत्यय-गोचर आत्मा अतिक्रामी आत्मा का प्रत्यय-गोचर पक्ष है। यह युगपद्भाव आत्मचेतन चेतना में स्वरूपगत है। इस यौगपद्य में प्रवृत्ति-भेद से प्रत्यङ्मुखता और लोकोन्मुखता की प्रधानता-गौणता का भेद हो सकता है किन्तु इस यौगपद्य से मुक्ति नहीं हो सकती।

किन्तु आत्मचेतन चेतना का यह विवेचन चेतना की समग्रता में से एक उद्गृहीत पक्ष का ही विवेचन है। अपनी समग्रता में तो चेतना मन, इन्द्रिय, प्राण और देह की भी समावेशी होती है। वास्तव में चेतना के आत्मचेतन होने से पहले तो यह इन वृत्तियों के रूप में ही रहती है। इस अवस्था में अहंकार इन वृत्तियों के अधिष्ठाता के रूप में रहता है। चेतना की इस अवस्था में आत्म-अतिक्रामिता का लेश भी नहीं रहता।

किन्तु चेतना के आत्मचेतन होने पर चेतना के स्वरूप में आत्म-अतिक्रामिता के रूप में एक आधारभूत क्रांति घटित होती है जिससे अहंकार सहित चेतना की मन से देह-पर्यन्त वृत्तियाँ अपने को अनात्म-रूपेण संज्ञापित करती हैं। सर्वप्रथम तो अहंकार की ही अनात्मरूपता प्रकट होती है। और सबसे आश्चर्यजनक और प्रकटत: विपर्यस्त बोध यही कहा जा सकता है, क्योंकि अस्मदत्व का आधार-स्तम्भ यह अहंकार ही है और यह अंहकार ही अनात्म-स्वरूपता के आधार-स्तम्भ के रूप में अपने को उद्घाटित करता है। चेतना के इस प्रत्यङ्मुख अभियान में आत्मा अपने को सब अहंकारों पर व्यापक देखता है यद्यपि आत्म प्रत्यय रूप में वह अपने को एक अहंकार से सम्बद्ध भी पाता है। किन्तु आत्म- प्रत्यय का अहंकार से यह सम्बन्ध बाह्य ही रहता है। भाषा, जिसमें कि प्रत्यय सर्वाधिक स्फुट अभिव्यक्ति पाते हैं, आत्म-प्रत्यय और अहंकार के सम्बन्ध की इस बाह्यता को सर्वाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। जैसाकि हमने पीछे देखा, भाषा में 'मैं' शब्द एक सर्वनाम के रूप में अहंकार- सम्बद्ध आत्म-प्रत्यय का वाचक है किन्तु यह सर्वनाम न केवल स्वयं में ही सब आत्म-प्रत्ययों के वाचक रूप में गृहीत होता है बल्कि 'तू' का यह अनिवार्य अपेक्षी भी होता है और ये दोनों 'वह' के सापेक्ष होते हैं। 'तू' की उपस्थिति 'मैं' को अन्य 'मैं' के सम्मुख उस (तू) के 'तू' के रूप में प्रत्युपस्थित कर देती है। यही बात 'वह' के साथ होती है जो वास्तव में एक परोक्ष 'तू' ही होता है। चेतना में यह बोध अहंकार के साथ आत्मा के तादात्म्य का अनौचित्य प्रकट करता है। किन्तु सहज रूप में तो मानव-चेतना में भी आत्मा अहंकारोपहित ही रहता है।

द्रष्टव्य है कि यहाँ हमने 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग पहली बार किया है। इसके बजाय यहाँ 'भ्रांति' शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता था जिसके प्रयोग का मुख्य सन्दर्भ ज्ञान है। वास्तव में हमारे दार्शनिकों ने इसके लिए सामान्यत: 'भ्रान्ति' शब्द का ही प्रयोग किया है, यद्यपि कहा जा सकता है कि बौद्धों और वेदान्तियों द्वारा इसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लिए 'अविद्या' शब्द का प्रयोग और सांख्य द्वारा 'अविवेक' शब्द का प्रयोग 'भ्रांति' के साथ 'अनौचित्य' को भी ध्वनित करते हैं। 'औचित्य-अनौचित्य' शब्दों का प्रयोग विशिष्ट रूप से उस कर्म के सन्दर्भ में होता है जो कर्म आत्म-सम्बद्ध होता है।[3] यों तो सभी कर्म आत्म-सम्बद्ध ही होते हैं, किन्तु जहाँ कर्म की युक्तता-अयुक्तता का मूल आत्म-अनात्म विवेक-अविवेक में हो, इन शब्दों का प्रयोग विशिष्ट रूप से वहीं होता है, यद्यपि इनका प्रयोग व्यापकतर सन्दर्भ में भी होता है। यहाँ उदाहरणत: चित्र बनाना, लेख लिखना आदि कर्मों को लिया जा सकता है। 'मैं प्रात: उठकर लेख लिखता हूँ, भ्रमण करने नहीं जाता', 'मैं आज दिन के दस बजे चित्र बनाने बैठ गया, यों सामान्यत: मैं उस समय सोता हूँ', ये वाक्य कर्म विषयक हैं, किन्तु इनमें कर्म करने, नहीं करने, अथवा अन्यथा करने में कोई औचित्य-अनौचित्य नहीं है। इनमें औचित्य-अनौचित्य हो सकता है यदि मैं प्रात: उठकर पहले भ्रमण करने के लिए आलस्यवश नहीं जाता।

यह औचित्य-बोध स्वयं चेतना में आत्म-अनात्म का द्वंद्व देखता है और कर्म के लिए इस चिद्गत अनात्म से मुक्ति को अनिवार्य पाता है। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ चेतना की ही वृत्तियाँ हैं, चेतना में आत्म-चेतना के आविर्भाव से पूर्व ये वृत्तियाँ ही चेतना का समग्र परिलक्षित होती हैं। जीव की जैवता इन्हीं के माध्यम से व्यक्त होती है और आत्म-लाभ करती है। किन्तु चेतना में आत्म-चेतना के आविर्भाव के साथ चेतना की ये जैव स्तरीय अभिव्यक्तियाँ अपने को आत्मा पर ऐसी उपाधियों, ऐसे आवरणों के रूप में प्रकट करती हैं जो आत्मा को अपने स्वरूप से व्यवहित करते हैं। कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक का मूल आत्मा के इस स्वरूप के अव्यवहित बोध में ही है। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक के प्रसंग तो हमारे सम्मुख जीवन की सामान्य परिस्थितियों में भी उपस्थित होते रहते हैं—जैसे उपर्युक्त प्रात: भ्रमण के उदाहरण में। ऐसे प्रसंगों में आत्म-अनात्म विवेक जैसे गम्भीर प्रश्नों के लिए कहाँ अवकाश बनता है? इसका उत्तर है कि जहाँ और जब हम इस विवेक के प्रति सतर्क

---

3. इन पदों के अर्थ अन्यत्र हमने निम्न प्रकार से विवेचित किये हैं—''सत्य-असत्य, प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-कुरूप ये पद चेतना के वस्तु से सम्बन्ध के निरूपक हैं किन्तु इनमें प्रथम पद-युगल दूसरे दो से मौलक रूप से भिन्न प्रकार का समझा जाता है। प्रथम के वाच्य जबकि चेतना के वस्तु-अनुबन्ध से निर्धारित होते हैं, दूसरे दो के वाच्य वस्तु के चेतनानुबन्ध से निर्धारित होते हैं। इनके विपरीत कर्त्तव्याकर्त्तव्य, उचितानुचित, एष्यानेष्य, सदसद्, श्रेयस्कराश्रेयस्कर पद हैं जिनके वाच्य चेतना के वस्तु से निरपेक्ष स्वयं अपने अर्थ के प्रति उसकी अनुकूलता प्रतिकूलता से निर्धारित होते हैं।'' समाज : दार्शनिक परिशीलन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर-दिल्ली, पृ. 81

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होते हैं, जब हम कर्म को इस गम्भीर दृष्टि से देखते हैं, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रसंग तभी उपस्थित होता है और यह प्रसंग सदैव गम्भीर और दुर्गम होता है, अन्यथा हम आलस्यवश भ्रमण करने को नहीं जा पाने जैसी बात नित्य करते रहते हैं और ऐसी बातों की ओर ध्यान नहीं देते। किन्तु आत्मालोचन में नित्य सजग व्यक्ति ऐसा नहीं करते।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि चेतना की जैव वृत्तियों को आत्मा पर आवरण रूप क्यों देखा जाय, इन्हीं को आत्मा या आत्मा के गुण क्यों नहीं देखा जाय? इसका दूसरा कोई उत्तर नहीं हो सकता सिवाय इसके कि चेतना की प्रत्यङ्मुखता में आत्मा का एक स्वरूप प्रकट होता है और उसके प्रकट होने पर ये वृत्तियाँ अनात्म-स्वरूप, आत्मा के स्वरूप पर आवरण रूप प्रकट होती हैं। जैसे जीव मात्र में प्रातीतिक को सत् रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति सहज होती है और उस ग्रहण का असत्यापन भ्रांति का बोधक होता है उसी प्रकार प्रत्यङ्मुख चेतना में चिद्वृत्तियों में आत्म-अनात्म का और तदनुसार उचित-अनुचित का बोध सहज रूप से प्रकाशित होता है, यद्यपि उसका निर्णय, उनमें विवेक प्रत्यङ्मुख चेतना की प्रांजलता की कोटि के अनुसार ही युक्त-अयुक्त होता है। इस प्रसंग में 'आत्मा की आवाज़' सुनने की बात कही जाती है, जो आवाज़ उतनी ही स्पष्ट सुनायी देती है जितना जैव वृत्तियों का कोलाहल रोका जा सके या उससे ध्यान हटाया जा सके। **श्रीमद्भगवद्गीता** में इस स्थिति के अत्यन्त विदग्ध व्यंजक पद हैं—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' तथा 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता।' इनमें दूसरी प्रतिपत्ति प्रत्यङ्मुख चेतना में प्रतिपल घटित परिस्थिति की विषमता को प्रकट करती है। इस विषमता को महात्मा कबीर ने और अधिक काव्यात्मक विदग्धता के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—सुखिया सब संसार, खावै औ सोवै, दुखिया दास कबीर, जागै औ रोवै। इस विवेक की दु:साध्यता की परिस्थिति **श्रीमद्भगवद्गीता** में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत की गई है, जिस परिस्थिति की प्रस्तुति के साथ **गीता** के विवेचन का आरम्भ होता है। और यह विवेक चेतना के किस स्तर के ऊर्ध्वारोहण की अपेक्षा करता है, इसका निरूपण भी **गीता** की तुलना में संभवत: अन्यत्र कहीं अलभ्य होगा। अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में सामने परिजनों को देखकर युद्ध के प्रयोजन और परिणाम के विचार में प्रवृत्त होते हैं। इस विचार के लिए अर्जुन को परिजनों के प्रति आत्मीयता की भावना प्रवृत्त करती है। इस भावना को श्रीकृष्ण कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बीच निर्णय के लिए अप्रासंगिक ही नहीं आवरक भी मानते हैं। किन्तु महाराजा अशोक भी कलिंग युद्ध के बाद मृत्यु की विभीषिका देखकर ही हिंसा-भाव से विरत हुए थे और बुद्ध-दृष्टि के प्रति आकृष्ट हुए थे। दोनों स्थितियों में भावना ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक की प्रवर्तक है। कह सकते हैं कि अर्जुन मनुष्य मात्र के प्रति करुणा से नहीं परिजनों के प्रति प्रेम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से प्रेरित हुए थे। यह सही है, किन्तु इस प्रेम से अर्जुन में प्रवर्तित दृष्टि विशेष विषयक नहीं थी, सामान्य विषयक ही थी—कि क्या अपना अधिकार पाने के लिए दूसरे का वध सही मार्ग है? युद्ध में अशोक के सामने परिजन नहीं होने से वे भावाविष्ट नहीं हुए इससे वे भीषण नर-संहार में प्रवृत्त हुए। यदि उनके सम्मुख भी परिजन होते और वे भावाविष्ट होकर युद्ध के प्रयोजन के अनौचित्य को देख पाते तो वे भीषण नर-संहार से बच जाते और इस प्रकार वह भावावेश उनके लिए सम्यग्दृष्टि का हेतु बना होता। आख़िर कलिंग युद्ध के बाद भी उनमें सम्यग्बोध का हेतु तो भावावेश ही बना!

यह सही है किन्तु स्वयं भावावेश सम्यग्दृष्टि नहीं है और न वह सम्यग्दृष्टि के लिए अनिवार्य हेतु ही है। वह असम्यग्दृष्टि के हेतु भावावेश का प्रतिकारक हो सकता है और इस प्रकार उस दृष्टि के लिए पथ-प्रशस्त कर सकता है जो दृष्टि भावावेशों से परे है। भावावेश तो इस दृष्टि के लिए निराकरणीय ही हो सकते हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि दया, मैत्री, करुणा आदि भी नृशंसता आदि के समान भाव ही हैं, किन्तु ये भाव स्वयं में ही मूल्यवान् हैं। किन्तु कोई भाव अपने आप में मूल्यवान् तभी हो सकता है यदि वह सम्यग्दृष्टि का अनुगामी हो और उससे आमूलाग्र अनुप्रविष्ट हो। यहाँ महात्मा कबीर का अत्यधिक व्यंजक पद 'माया महा ठगिनी हम जानी' स्मरणीय है जिसमें 'जोगी के जोगिन ह्वै बैठी' और 'शिव के भवन भवानी' जैसी पंक्तियाँ हैं जो इन्हीं तथाकथित सद्भावनाओं की उस अवस्था में वंचकता प्रदर्शित करती हैं यदि ये भावनाएँ सम्यग्दृष्टि से निर्दिष्ट नहीं हैं। कबीर ने भी इन्हें वंचक (ठगिनी) ही कहा है। क्योंकि ये आत्मा की उपकारकवत् प्रतीत होती हैं जबकि ये वास्तव में अपकारक होती हैं। इन वंचनाओं से बचने का एक ही उपाय है—इनके प्रति निरन्तर सतर्क रहना। किन्तु यह सतर्कता सम्यग्दृष्टि को पूर्वगृहीत करके चलती है। यह पहले बोध हो कि आत्मा क्या है और अनात्म क्या तभी तो सतर्कता आत्म-रूप में प्रकट अनात्म को पहचान कर उसे दूर रख पायेगी? किन्तु उतना ही महत्त्वपूर्ण निरन्तर सतर्क रहना है, क्योंकि दृष्टि सम्यक् नहीं होने पर कब कोई अनात्म भाव झाड़ी के पीछे छिपे चोर के समान आक्रमण कर दे, इसका भरोसा नहीं रहता। 'कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक में कवियों का भी व्यामोहित होना' सम्यग्दृष्टि की ही दुराराध्यता का द्योतक है।

किन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि चेतना के आत्मचेतन होने के पूर्व उसमें आत्मा की कोई उपस्थिति ही नहीं रहती, वह उसके आत्मचेतन होने पर ही आविर्भूत होती है और चेतना में आधारभूत रूप से एक नया आयाम जोड़ती है। कोई यह भी कह सकता है कि वह चेतना की सब अवस्थाओं में रहती है किन्तु वह उसके आत्मचेतन होने के पूर्व नितान्त आवृत रहती है—बीज रूप में। बौद्धों की तथागतगर्भ की अवधारणा कुछ ऐसी ही है। इनमें कौन सा पक्ष स्वीकार किया जाय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह निर्णय यहाँ प्रासंगिक नहीं है। हमने अन्यत्र दूसरे विकल्प को ही स्वीकार किया है। यहाँ महत्त्वूर्ण यह देखना ही है कि चेतना में आत्मा के आविर्भाव या प्राकट्य का क्या अर्थ है और इस आत्मा का क्या स्वरूप है।

डेकार्ट ने सब कुछ को सन्देहास्पद पाया। किन्तु किसी के सन्देहास्पद होने के लिए सन्देह का होना आवश्यक है। सो, इस सन्देह का अस्तित्व असंदिग्ध है। यह असंदिग्ध सन्देह चेतना की प्रत्यङ्मुखता में ही आविर्भूत होता है और उसी में यह अवगम्य होता है। यह अवगमन चेतना का आत्मावगमन है। यह आत्मावगमन प्रत्यङ्मुख होने से अविषय भी होता है और इसके अविषय होने के लिए आत्मा विषय भी होता है। किन्तु यहाँ कुछ कठिनाइयाँ हैं—यह सन्देह अपनी विषयिता में क्या स्वयंपर्यन्त होता है या कि यह किसी कर्त्ता का कर्म या ज्ञाता का सन्देह होता है, चाहे इस ज्ञाता का ज्ञातृत्व मात्र इस सन्देहपर्यन्त ही हो, इससे आगे कुछ नहीं हो? दूसरे, क्या सन्देह अविषय हो सकता है, चाहे वह सन्देह प्रत्यङ्मुख चेतना का ही क्यों न हो? इनमें दूसरे प्रश्न का उत्तर स्पष्टत: नकारात्मक ही हो सकता है, ऐसा प्रतीत होता है। सन्देह किसी विषय विषयक ही होता है। डेकार्ट का सन्देह इन्द्रियगोचर वस्तुविषयक और अन्त:संवेदगोचर अन्त:स्थिति-विषयक ही था, इनकी विषयता से मुक्त सन्देह नहीं था। किन्तु कहा जा सकता है कि प्रत्यङ्मुखता में अवगमन सन्देह का नहीं, आत्मा का ही होता है जिसमें सन्देह केवल एक माध्यम बनता है—आत्मा के अवगमन के लिए। शंकराचार्य जब आत्मा की असंदिग्धता के लिए सन्देह-कर्त्ता के रूप में आत्मा को अनिवार्यत: पूर्वगृहीत मानते हैं तब उनका यही अभिमत है, यह स्पष्ट है, क्योंकि डेकार्ट से भिन्न, वे न तो इस आत्मा से ईश्वर की सत्ता निगमित करते हैं और न जगत् की। 'मैं अपूर्ण हूँ' यह केवल प्रत्यय-गोचर आत्मा ही अपने सम्बन्ध में कह सकता है और ऐसा आत्मा ही ईश्वर और जगत् के निगमन के लिए आधार बन सकता है। किन्तु यह विचारणीय है कि क्या चेतना अपनी प्रत्यङ्मुखता में विषय को अपने में से बहिष्कृत रूप में प्रस्तुत किये बिना प्रत्यङ्मुख रह सकती है? यहाँ **योगसूत्र** की योग की परिभाषा का उल्लेख स्थाने होगा। उसके अनुसार "चित्तवृत्ति का निरोध योग है।" इस परिभाषा के अनुसार चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाने पर शुद्ध आत्मा आत्मप्रतिष्ठ होता है। यह चेतना के प्रत्यङ्मुख आरोहण में पराङ्मुखता के पूर्ण निरोध की संभावना का स्वीकार है। किन्तु यदि इस संभावना को स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह निरोध निरोधन-व्यापार के बिना संभव नहीं है और इस प्रकार शुद्ध आत्मा पराङ्मुखता से आत्मोन्मुख प्रत्यावर्तन के द्वारा ही साध्य होता है। योग में यह सिद्धि विषयता के पूर्ण निवारण के रूप में देखी गई है, जो चेतना के आत्मचेतन होने से पूर्व की पूर्ण विषय-तादात्म्य की अवस्था का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैपरीत्य कही जा सकती है। अनात्मचेतन : आत्म-अचेतन : चेतना विषय-तादात्म्य रूप से अविभक्त रहती है और निरुद्धवृत्ति चेतना आत्म-तादात्म्य रूप से अविभक्त रहती है। यहाँ कहा जा सकता है कि विषय-तदात्म चेतना विभिन्न विषयों या वृत्तियों में विभक्त रहती है। यह ठीक है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में विभाग से अभिप्राय विषयि-विषय विभाग से ही है।

किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि यदि चित्तवृत्ति-निरोध-सिद्ध-चित्स्थिति आत्माविभक्त स्थिति है तो क्या वह प्रत्यङ्मुखता से उत्क्रमित स्थिति है और इस प्रकार विषयि-विषय-अन्तर्विभाग इसमें निरस्त रूप में अन्तर्हित रहता है? द्रष्टव्य है कि यदि चित्त- वृत्ति-निरोध को, ब्रह्म-लीनता या आत्म-लीनता या सम्बोधि की अवस्था को ऐसी अतिक्रांतता की अवस्था के रूप में नहीं देखा जाय जो चेतना की आत्मोन्मुख अनुसंधान- यात्रा की पर्यन्तता है, जिस पर्यन्तता में प्रत्यय, अर्थ और विषय उच्छिन्न या विलीन नहीं होते बल्कि जिसमें ये अव्यवहित रूप से साक्षात्कार्य अथवा पूर्ण सम्यक् रूप से गम्य हो जाते हैं, तो यह (आत्म-लीनता) की स्थिति अचित्थिति से अविवेच्य होगी, बहुत कुछ जीवों की शीतनिद्रा (हिबर्नेशन) की स्थिति जैसी, बल्कि उससे भी आगे शाश्वत निद्रा के जैसी।

आत्मा विषयक उपुर्यक्त समस्त विवेचन आत्मा को चेतना के आत्मानुसंधान की प्रक्रिया या प्रकार्य के रूप में आपादित करता है। यदि उपनिषदों को ध्यान से देखा जाय तो उनके प्रतिपादन में भी आत्मा का रूप इससे भिन्न नहीं दिखता, यद्यपि यह सही है कि उनमें आत्मा किसी आधार वस्तु या अस्तित्व मात्र के मूल हेतु के रूप में देखा गया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जबकि चेतना का आत्मचेतन होना आत्मा की अनुसंधित्सा को संभव करता है, यह इस अनुसंधित्सा को अनिवार्य नहीं बनाता। यह विषयानुसन्धित्सा को भी संभव करता है, क्योंकि इस चेतना के लिए विषय स्वतन्त्र अर्थ रूप होता है जो अर्थ अपार रूप से विपुल होता है। आत्म-अचेतन चेतना का जगत् जैव अर्थों से प्रवर्तित ऐन्द्रिक विषयों तक परिसीमित होता है जबकि आत्मचेतन चेतना का जगत् जैव अर्थों के अतिरिक्त मनोमूलक और बुद्धिमूलक अर्थों से प्रवर्तित ऐन्द्रिक, मानसिक और बौद्धिक विषयों का अनन्त विस्तृत और अथाह जगत् है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस जागतिक अर्थ-राशि के संवर्धन को ही परम पुरुषार्थ क्यों नहीं माना जाय, इससे विमुख आत्मानुसंधित्सा को क्यों उच्चतर पुरुषार्थ माना जाय? द्रष्टव्य है कि पुरुषार्थ लोकानुसंधान को भी माना गया है—धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ लोकाभिमुख पुरुषार्थ ही हैं। किन्तु आत्मानुसंधान को उच्चतर पद दिया गया है और यह क्रम-निर्धारण सर्वसम्मत जैसा ही है। उदाहरणतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैज्ञानिक, कवि, दार्शनिक, शास्त्रकार, राजनेता, समाजसेवी सबको पुरुषार्थ-साधकों के रूप में ही देखा जाता है और उन्हें उन क्षेत्रों में उनकी उत्कृष्टता के अनुसार आदर दिया जाता है, किन्तु बड़े से बड़े कवि, दार्शनिक या वैज्ञानिक को ऋषि, महात्मा, मुनि या सन्त के तुल्य पद नहीं दिया जाता। स्वयं इन्हें भी उनकी उस क्षेत्र में सफलता के बावजूद तब सम्मान का अधिकारी नहीं माना जाता यदि उनमें चरित्र की उदात्तता साथ नहीं हो। बल्कि ऐसा पूर्वमान्य सा करके चला जाता है कि कोई अच्छा कवि या अच्छा वैज्ञानिक है तो वह सच्चरित्र भी होगा ही। वह वैसा नहीं है तो इस बात को लगभग वदतोव्याघात जैसा माना जाता है। अर्थात् लौकिक अर्थों के अनुसंधान को भी परोक्षत: आत्मानुसंधान के अवर स्तर के रूप में ही देखा जाता है, जिस अनुसंधान में किसी अर्थ में लोकोत्तरता है। वास्तव में यह लोकोत्तर का लेश ही कामादि को पुरुषोचित अन्वेष्यार्थ बनाता है। जैसे वैज्ञानिक का गौरव केवल उसकी वैज्ञानिक सफलता में ही नहीं देखा जाता बल्कि वैज्ञानिक अनुसंधान में उसकी ऐसी लगन में देखा जाता है जिसके कारण वह लौकिक भोगों से दूर रहता है। इसके साथ यदि उसमें करुणा, उदारता, सरलता आदि गुण भी हों तब तो बात ही क्या! यह बात लोक-कल्पना में अल्बर्ट आईंस्टाइन की प्रतिमा और भारत के नवनिर्वाचित राष्ट्रपति अब्बुल कलाम की प्रतिमा से देखी जा सकती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस पूर्वग्रह का औचित्य क्या है? क्यों नहीं लौकिक अर्थों के लोकोन्मुख अनुसंधान को भी परमपुरुषार्थ माना जाय? इसके उत्तर के लिए 'अर्थ' और 'पुरुषार्थ' के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

जिन अर्थों की यहाँ हम बात कर रहे हैं वे अर्थ जैव या ऐन्द्रिक अर्थों से भिन्न मानसिक, बौद्धिक या तदुत्क्रामी चेतनागत अर्थ हैं, जैसा कि हमने पीछे देखा है। ये अर्थ चेतना के आत्मचेतन होने पर ही आविर्भूत होते हैं और इनका अनुसंधान चेतना के आत्मोन्मुख प्रवर्तन से ही फलित होता है। इस प्रकार एक सीमा तक ये अर्थ भी लोकोत्तर ही होते हैं। उदाहरणत: यदि कोई परिनिष्ठित संगीत-साधक, समर्पित विज्ञानान्वेषी, निरपेक्ष शिल्पी आदि है, अर्थात् यदि इन अर्थों के अन्वेषण में उसका कोई जैव अर्थ साध्य नहीं है, वह केवल आनुषंगिक और अवान्तर है, तो उसका अन्वेष्यार्थ लोकोत्तर ही कहा जाएगा। ऐसा संभव है कि कोई संगीत-साधक, दार्शनिक या कवि अपने उद्दिष्ट अर्थान्वेषण में नितान्त समर्पित और सफल हो किन्तु साथ ही वह जैव एषणाओं के भी वशीभूत हो—वह लोभी, अहंकारी, कामी या नृशंस भी हो सकता है। ऐसा बहुत बार देखा जाता है। यह चेतना की वैयक्तिक अभिव्यक्ति के विभिन्न आयामों में असामंजस्य के कारण होता है। किन्तु आत्मान्वेषण चेतना की अभिव्यक्ति के सभी आयामों की एकोन्मुखता को पूर्वापेक्षित करता है। यद्यपि, जैसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि हमने ऊपर कहा, परिनिष्ठित कवि, वैज्ञानिक, शिल्पी किसी में भी उपर्युक्त जैव प्रवृत्तियों की उपस्थिति इस अर्थ में वदतोव्याघात ही कही जायेगी कि ये प्रवृत्तियाँ उन अनुसरणों से असंगत हैं, किन्तु कवि, वैज्ञानिक और शिल्पी केवल कवि, वैज्ञानिक या शिल्पी ही नहीं होते। ये होने के लिए चित्त का समग्रत: लोकोत्तर उन्नयन आवश्यक नहीं होता। किन्तु आत्मान्वेषण में ऐसा आवश्यक होता है।[4] इसमें ऐसा आवश्यक होने का कारण यह है कि आत्मान्वेषण है ही चित्त की सब वृत्तियों की उन्मुखता का लोक से आत्मा की ओर प्रवर्तन। यों काव्यादि के अनुशीलन में भी यह प्रवर्तन अभीष्ट होता है, किन्तु उन अनुशीलनों में यह तात्कालिक और तत्पर्यन्त भी रह सकता है। उदाहरणत: कोई दार्शनिक, विचारक, कवि या कलाकार बहुत गम्भीर और उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों या भावों का साक्षात्कारी हो सकता है, किन्तु उससे अलग होने पर वह उससे विपरीत व्यवहार भी कर सकता है। ऐसा प्राय: ही देखा जाता है। किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि स्वयं ये अनुशीलन भी आत्मा से विमुखवृत्तिक हो सकते हैं।

इस सब विवचेन में ऐसा प्रतीत हो सकता है जैसे हम लौकिक जीवन में साधारण जन की साधारण सुख-समृद्धि की आकांक्षाओं को, उनके सपनों और एषणाओं को, आत्मविपर्यसात्मक मानते हैं। कम से कम उन्हें सार्थक नहीं मानते। ऐसा नहीं है। वास्तव में ये अनुसरण या एषाणाएँ भी उदात्त, अनुदात्त, शुभ्र-अशुभ्र हो सकती हैं और इनकी उदात्तता और कुछ नहीं, इनके आत्मा से अनुकूल होने में ही होती है और अनुदात्तता आत्मा से प्रतिकूल होने में। उदाहरणत: वैमनस्य, कुटिलता, अहंकार, लोभ, अनुदारता आदि लौकिक सुखों में भी बाधक होते हैं और इनसे मुक्त भाव सुख-साधक।[5] निश्चय ही साधारण जीवन के साधारण सुखों के अन्वेषी जन कोई आत्म-विचार नहीं करते, किन्तु यह विचार अनति सूक्ष्म चिन्तन-परम्परा के रूप में उन्हें उपलब्ध रहता है। वे इस चिन्तन के अनुकूल आचरण करने में उसी प्रकार सफल-असफल रहते हैं जैसे उत्कृष्ट दार्शनिक या कवि अपने चिन्तन के अनुकूल आचरण करने में सफल-असफल रहते हैं।

---

4 यहाँ कहा जा सकता है कि सब अन्वेषण आत्मान्वेषण ही होते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के ''न वा अरे पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति: प्रियो भवति'' आदि मंत्रों (अ.2 ब्राह्मण 4, कण्डिका 5) में यही मत प्रतिपादित है। किन्तु वहाँ यह आत्मान्वेषण का विपर्यस्त रूप विवक्षित है जैसा कि ''आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्'' से स्पष्ट है। तो भी काव्य, विज्ञान, दर्शन आदि को आत्मान्वेषण कहा जा सकता है। किन्तु यह आत्मान्वेषण का परोक्ष रूप होता है।

5 इस पर द्रष्टव्य यशदेव शल्य - मूल्यतत्त्व-मीमांसा के परिशिष्ट में 'लोक साधन' लेख।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्माविषयक इस विवेचन के अनुसार आत्मा कोई स्थिर, पूर्वसिद्ध, पूर्वनिष्पन्न वस्तु नहीं होकर गोचर आत्म की अगोचर विषयिता मात्र सिद्ध होता है, जो अपने गोचर पक्ष में अगोचर पक्ष की अतल-अनवगाह्य अर्थ-सम्पदा का धारक बनता है। किन्तु 'आत्मा' के अर्थ में कहीं न कहीं उसकी व्यक्ति-सम्बद्धता भी निहित है। अस्मत्प्रत्यय निर्वैयक्तिक आत्मा-प्रत्यय नहीं है। संपूर्ण पाश्चात्य दर्शन में—ग्रीक से आधुनिक तक—आत्मा व्यक्ति-सम्बद्ध अतिप्राकृतिक वस्तु या तत्त्व रूप में ही स्वीकृत है। सुकरात, डेकार्ट और कांट का आत्मा वैयक्तिक आत्मा ही है। हमारे यहां भी वेदान्त के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन में आत्मा को निर्वैयक्तिक स्वीकार नहीं किया गया है। इसी से बौद्धों ने आत्मा को अस्वीकार किया है क्योंकि वे वस्तुत्व या द्रव्यत्व मात्र को अस्वीकार करते हैं। सांख्य का पुरुष नितान्त निर्गुण-निरुपाधिक होते हुए भी वैयक्तिक है, यद्यपि इस प्रश्न का उस दर्शन में कोई समाधान नहीं मिलता कि ऐसा पुरुष वैयक्तिक कैसे हो सकता है? किन्तु जैसाकि हमने देखा, आत्मचेतन चेतना में निर्वैयक्तिकता : अहंकारातिक्रामिता : भी सहज होती है। वह नहीं होती तो भाषा का अस्तित्व ही संभव नहीं होता। जैसाकि हमने पीछे देखा, भाषा में न केवल 'मैं' पद ही सर्वनाम है बल्कि उसमें सभी विशिष्ट सामान्य के ही स्थान विशेष या काल विशेष की अभिव्यक्तियों के रूप में देखे जाते हैं। सामान्य घट पानी का धारण नहीं कर सकता, किन्तु विशेष भी घटत्व से अध्यारूढ़ हुए बिना पानी का धारण नहीं कर सकता। यह कांट के भ्रान्त उदाहरण से अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। उसके अनुसार जेब में ठोस रूप में हुए बिना पैसा क्रय-क्षम नहीं हो सकता। किन्तु उसने यह नहीं देखा कि कुछ पैसापन में प्रतिष्ठित हुए बिना भी क्रय-क्षम नहीं हो सकता, और यह पैसापन जिस भी किसी को अधिष्ठित कर लेता है वह क्रय-क्षम हो जाता है। वास्तव में यह वैचित्र्य सभी मानवीय कृतियों में देखा जा सकता है। एक चित्र, कविता या लेख किसी प्रत्यय को साकार करते हैं। अपने अस्तित्व में ये इस अर्थ में विशेष भी कहे जा सकते हैं कि ये देश या काल में एक बार घटित होते हैं और एक रूप विशेष लेते हैं। किन्तु अपने स्वरूप में ये विशेष नहीं होते, ये प्रत्यय के प्रतिनिधि मात्र होते हैं। इसीसे कोई कविता या लेख अपने रचना-कर्म तक सीमित नहीं रहता, वह असीम अर्थ का ही वाहक होता है। उसे जितने भी लोग देखते हैं वे सब उसकी अतल-अपार व्यापकता में अपना अतिक्रमण करते किसी अंश का अवगमन कर पाते हैं। यही रूप मानव-व्यक्ति का भी होता है। वह भी अतल-अनवगाह्य आत्म-तत्त्व को अस्मत्प्रत्यय के आधार में व्यक्त करता है जो अस्मत् एकसाथ सीमित व्यक्ति और विराट् होता है। किन्तु मनुष्य साधारणत: अपने को अपनी वैयक्तिकता के साथ ही अभिन्न मानता है और इसकी पीनता में ही अपनी विराट्ता देखता है। इसका कारण उसका जैव इतिहास से निबद्ध होना होता है। इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इतिहास से मुक्ति में ही व्यक्ति की आत्मोपलब्धि निहित होती है। किन्तु सहज रूप में मनुष्य इस व्यक्तित्व से मुक्ति में आत्म-क्षय को ही देखता है। आत्मा को व्यक्ति-निष्ठ रूप में देखने के पीछे यह प्राकृतिक दृष्टि ही क्रियाशील कही जा सकती है। मृत्यु-भय का भी यही कारण कहा जा सकता है, जो जीव मात्र में परिलक्षित होता है। मनुष्य ने इस भय से मुक्ति पाने के लिए ही अन्य लोक में व्यक्ति रूप में आत्मा के बने रहने या पुन: जन्म लेने की कल्पना की है। सुकरात ने फ़ीडो संवाद में मृत्यु-दंड के वरण के लिए यही युक्ति दी है। किन्तु यह दृष्टि विपर्यस्त ही कही ज़ा सकती है। भारत में जो पुनर्जन्म को बंध के रूप में देखा गया है वह दृष्टि निश्चय ही अधिक सम्यक् है, किन्तु उसमें यह दोष है कि वह भी आत्मा को वस्तु-रूप में ही देखती है—मिट्टी के घट का आकार लेने और उस आकार के मिटने के रूप में। इससे यह बन्ध-मुक्ति या मोक्ष व्यक्तित्व के लय का पर्यायार्थक हो जाता है और यह घट-कल्पना के तिरोहित होकर मिट्टी रूप मूल पदार्थ के शेष रह जाने जैसा है। किन्तु तब यह लय वास्तव में ही भयावह है क्योंकि यह व्यक्ति के अस्तित्व का खो जाना है। किसी को अपने अस्तित्व से अधिक क्या प्रिय हो सकता है? किन्तु वास्तव में मोक्ष में यही अभिप्रेत है—यद्यपि बृहत्तर व्यक्तित्व पाने के लिए। किन्तु संभवत: यह वस्तुपरक-द्रव्यपरक पदावली युक्त नहीं है। किन्तु यदि चेतना की लघुता-गुरुता को उसमें उन्मीलित अर्थ की लघुता-गुरुता के रूप में देखें, स्वयं चेतना की अपनी लघुता-गुरुता के रूप में नहीं, तो सारी बात ही बदल जाती है। इसे समझने के लिए दो व्यक्तियों की चेतना के भेद को उदाहरण रूप में देखा जा सकता है—एक व्यक्ति, जिसकी चेतना जीवधर्मता से ऊपर नहीं उठ पाती और दूसरा व्यक्ति, जिसकी चेतना जीव-धर्मता से मुक्त अर्थों के व्योम में मुक्त विचरण करती है। इस प्रकार देखने पर 'आत्म-चिन्तन' का अर्थ अपने होने के अर्थ, अपनी अभीप्सा की वरीयता-अवरीयता और अपने कर्मों के औचित्य-अनौचित्य के प्रति निरन्तर सतर्कता, निरन्तर चिन्तन और वरीय अभीप्सा में पूर्ण तन्मयता का वाचक हो जाता है। ऐसे चिन्तन का आदर्श संबुद्ध शाक्य मुनि, निरंजन राम में रमने वाले कबीर या अंजन के स्रोत में रमने वाले रामकृष्ण परमहंस, तथा अपने कर्मों के औचित्य-अनौचित्य के प्रति निरन्तर सतर्क महात्मा गान्धी प्रस्तुत करते हैं। किन्तु अंशत: आईंस्टाइन और नार्लिकर जैसे वैज्ञानिक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जयशंकर प्रसाद जैसे कवि, नागार्जुन, शंकराचार्य और रघुनाथ शिरोमणी जैसे दार्शनिक-तार्किक भी करते हैं—जिस अंश में वे वैज्ञानिक, काव्यात्मक या दार्शनिक अर्थों के गवेषी होते हैं—अपने शेष अंश में जैव अर्थों के वशवर्ती रहते हुए भी।

पी-51, मधुबन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर 302015

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में उपेय विचार

मुकुन्द लाठ

पिछले लेखों को बहुत दिन हो गये हैं, इसलिये आरम्भ से कही बात एक नये सिरे से समेटता हुआ, उसी प्रयास के भीतर से आगे बढ़ता हूँ।

मानव-प्रवृत्ति मात्र को कर्म कह सकते हैं, क्योंकि उसमें औचित्य-बोध के साथ एक 'करनी' - एक चेष्टा - होती है। हमारी चेतना स्वभाव से ही कुछ करने की ओर उन्मुख होती है। व्यापृत होती है। स्थिर वस्तु नहीं, गतिशील होती है। कई स्तरों पर गतिशील होती है। यों तो चेतना अपने बाहर उन्मुख दिखती है, पर यह आत्मचेतन भी होती है, अपने भीतर ही बाहर-भीतर बनाती हुई आलोड़ित होती है; विमर्शमय होती है - अपने आप को देखती, जानती, परखती, साधती चलती है। जहाँ औचित्य की बात आत्मचेतना के भीतर से अपने आप उठती, जागती है।

चेतना के ऐसे भी स्तर हैं, या वृत्तियां हैं, जो उन्मुख, गतिशील होती हैं, पर उनके भीतर से औचित्य का प्रश्न नहीं उठता - जैसे इच्छा का उठना, उसकी उद्वेलित गतियां। यह मानो चेतना का कर्म नहीं क्रिया है - जो कि आत्मबोध में रहती हुई स्फूर्त नहीं होती, आगन्तुक होती है - यदृच्छामयी या संस्कार के गतानुगतिक डगरों पर चलती हुई। उसका अहं से एक निबिड़ अविनाभाव-सा भी होता है जबकि औचित्य-व्यापार में चेतना अहं से अलग होती दिखती है। क्योंकि औचित्य-व्यापार प्रमाण-व्यापार है, जो मेरा या किसी *का* नहीं होता। स्व-स्थित, स्व-तन्त्र होता है। औचित्य का विवेक-तन्त्र औचित्य-बोध के भीतर से ही प्रकाश की तरह उभरता है, इच्छा की तरह आगन्तुक आ कर हम पर हावी नहीं होता। इसलिये औचित्य-बोध को ही मानव-कर्म का कर्त्ता कहना चाहिये। यह बोध व्यक्ति के अपने स्व-गत बोधों में ही होता है, उसी चित्त में होता है जहां इच्छा भी होती है, पर उससे बँधा नहीं होता। भिन्न व्यक्तियों में भिन्न हो सकता है पर भेद की उपस्थिति उसे अप्रमाण नहीं करती, उसे प्रमाण-व्यापार की मर्यादा से बाहर नहीं करती - उसे झुठलाती नहीं है, उसका सहज बहुवचन दिखाती है। उसका आत्मावलोकन प्रमाण-व्यापार के ही लक्षण का साक्षात् परिचय है। हां, उसमें भ्रान्ति हो सकती है - मिथ्या-बोध हो सकता है; पर इस बोध का होना भी प्रमाण-व्यापार का ही लक्षण है। प्रमाण-व्यापार के बाहर सत्य-मिथ्या की बात ही नहीं उठती। किसी भी कर्म का सत्य, उसका अर्थ क्या है, प्रमाण का भी सत्य (प्रमाणत्व) क्या है—हमारी औचित्य-प्रेरणा अपनी हर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वृत्ति में यह ढूंढती है। अगर यह खरेपन के साथ भिन्न दिशायें लेती है तो इसे उसका वैभव भी कह सकते हैं, उसे अप्रमा क्यों कहें? अप्रमा की ललकार, मिथ्या को धरती पर से मिटा देने का अभियान, अकसर किसी अंध-श्रद्धा के वशवर्ती प्रभुत्व की उद्दण्डता का ही लक्षण होता है। हम कह सकते हैं कि बहुवचन को ही अप्रमाण कहना किसी एक सत्य के प्रति हठ का निर्विवेक आग्रह नहीं, प्रमाण-व्यापार में ही निहित 'सत्याग्रह' है - प्रमाण की खोज ही मिथ्या के बहु से सत्य के एक की ओर बढ़ना है। या मिथ्या कहते हिचक हो तो कह सकते हैं कि सत्य कल्पना के बहु को नकारता हुआ, अपने *एक* ध्रुव की ओर बढ़ता है। यही प्रमाण-व्यापार है। पर यहां प्रश्न होगा : और न भूलिये कि प्रश्न की वृत्ति औचित्य-बोध में कल्पना की सहोदरा है : प्रश्न होगा कि बिना कल्पना के प्रमाण-व्यापार ही कैसा? बुद्धि, विचार, युक्ति, संगति, इनकी बात प्रश्न और कल्पना की नींव चाहती है। विशुद्ध प्रश्नहीन सत्य हठ-धर्मी आग्रह या निर्विचार श्रद्धा की बात ही हो सकती है, जहां प्रमाण की दुहाई ही बेमानी है। कहना न होगा कि औचित्य का बहमुखीभाव एक वृथा 'अपनी अपनी पसंद' या 'अपना अपना मत' की ख़ामख़याली की बात नहीं है - औचित्य का आत्मसंध अभिनिवेश है, सत्यसंकल्प है, जो भ्रान्त होता है तो भ्रान्ति को पहचानने की भी आँख ढूंढता है, उसे दूर करने का प्रण भी पालता है।

पर आत्मचेतना अगर औचित्य का – और यों एक गहरे अर्थ में प्रमाण का – अधिष्ठान या बीज कहला सकती है तो आत्मोन्मुख हो कर अपना भी प्रमाण ढूंढती है। उसके होने का प्रमाण क्या? हम मान भी लें कि आत्मचेतना अपने आप को ही नहीं झुठला सकती, अपना ही निषेध उसके लिये संभव नहीं, पर उस का प्रमाण-बोध फिर भी अपने स्वातंत्र्य के प्रमाण-मार्ग ढूंढ़ता है; उसमें औचित्य-बोध जैसा कुछ है तो यह बात प्रमाण चाहती दिखती है - क्योंकि प्रश्न यहां केवल आत्मचेतना के होने का नहीं है, प्रश्न उसके औचित्यमय होने का है। हम प्रमाण तलाशते हैं तो पहले ही, स्वभाव से ही, इन्द्रिय की ओर मुड़ते हैं। हमारे पहले लेख में, और फिर कुछ दूर तक दूसरे लेख में, इन्द्रिय-बोध के ही माध्यम से यह दिखाने का प्रयत्न है कि भिन्न इन्द्रियों के अनुभव में, भिन्न इन्द्रियों के वृत्ति-भेद में, उनके ग्रहण के अलग अलग स्वभाव में ही, आत्मचेतना के भीतर एक स्तर-भेद उभरता दिखता है, जहां औचित्य-बोध को हम इन्द्रिय से उठ कर आत्मचेतना के अपने स्वातंत्र्य में आसीन होते देख सकते हैं।

ज्ञान-चर्चा में हम इन्द्रिय की वृत्ति को ज्ञान से जोड़ने के अभ्यस्त हैं। पर ज्ञान तो इन्द्रिय से संकेत ले कर इन्द्रिय से हट जाता है। इन्द्रिय का व्यापार वहां संकेत दे कर पूरा हो जाता है। पर भोग में देखिये। भोग में इन्द्रिय ही जागती है। वही ग्रहण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

करती है, वही निकष भी होती है - वही विवेक करती है; बात बनी कि नहीं, वही जाँचती है। या यों कहिये कि ग्रहण के 'वस्तुत्व' का - भोगवस्तुत्व का - वही प्रमाण होती है। भोग के शिल्पों को लीजिये, जिनके माध्यम से हम भोगवस्तुओं की निर्मिति करते हैं। यहां इन्द्रियों के बीच का भेद और गहरा प्रकट हो कर आगे आता है। स्पर्श, घ्राण, जिह्वा, इन्हें एक कोष्ठक में रखते हुए हम इन्हें स्पर्शेन्द्रिय की संज्ञा दे सकते हैं। ये वस्तु को जैसे मुट्ठी में ले कर वस्तु का ग्रहण करती हैं - साक्षात् 'पा' कर, वस्तु को 'जानती' हैं; अपने भीतर लेती हैं। पर इनके विपरीत आँख और कान, ये दूर से ही वस्तु का ग्रहण करते हैं। बल्कि कान के लिये तो कह सकते हैं कि कान किसी ऐसी वस्तु का ग्रहण करता ही नहीं जिसे दूसरी इन्द्रियों की तुलना में वस्तु कहें - उसकी गृहीत वस्तु उसकी अपनी ही वस्तु होती है : अन्य इन्द्रियों की तरह श्रवणेन्द्रिय किसी *द्रव्य* का बोध नहीं कराती। पर आँख और कान में एक बात समान है - विमर्श की तरह विषय से हट कर ही विषय का बोध करती हैं ये दोनों इन्द्रियां। इस संदर्भ में लक्षणीय है कि बौद्धों और नैयायिकों की पुरानी चर्चा में इन्द्रियों की दो कोटियां बनाई गई हैं : प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। प्राप्यकारी वे इन्द्रियां हैं जो विषय को पा कर जानती हैं - स्पर्श, घ्राण, जिह्वा; और वे जो विषय को बिन पाये दूर से जानती हैं वे अप्राप्यकारी हैं - आँख, कान। जब मैंने लेख लिखे थे तब इस पुरानी चर्चा से परिचय नहीं था। लेकिन बात पकड़ की है। देखा तो अपनी बात पर भरोसा बढ़ा। भेद वही है जो मैंने किया है - पुराने लोगों ने भी इसीलिये उभारा है क्योंकि प्रत्यक्ष है। पर उनका उद्देश्य भिन्न था। पुरानी चर्चा में भेद को ज्ञान के ही प्रसंग में उभारा गया है। वहां भोग की दृष्टि से भेद को नहीं देखा गया है। भोग को दर्शन-चर्चा में किसी विमर्श के अभिनिवेश के साथ लिया ही नहीं जाता था।

पर भोग की दृष्टि को आगे रखें तो आत्मचेतना में एक सीढ़ी बनती दिखती है - आत्मचेतना के अपने स्वतन्त्र विवेक का अन्तरिक्ष खुलता दिखता है। जो इन्द्रियां प्राप्यकारी कहलाती हैं वे वस्तु को सीधे संपर्क से जानती हैं - वस्तु से मानो हिलमिल कर वस्तु को जानती हैं। उनमें स्पर्श हावी रहता है। रसना, घ्राण, त्वचा छू कर पाती हैं। हम चाहें तो करने को हम गंध और स्पर्श का भेद भी कर सकते हैं, पर छू कर पाना दोनों का प्राण है। भेद तो स्पर्श के भीतर भी किये जा सकते हैं - छू लेने में और छू कर स्वाद लेने में प्रकट भेद है ही। काम-स्पर्श को लें तो भेद का एक और ही आयाम खुलता है जो हमारी सत्ता का ही एक सर्वथा ज्ञान-भिन्न रहस्य-बीज है। जो भी हो, ये सभी स्पर्श प्राप्यकारी हैं। पर आँख की बात दूसरी है, वह दूरी रख कर ही देख सकती है - दृक् और दृश्य का साक्षात् स्पर्श हो जाये तो दिखना ही दूर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हो जायेगा। कान भी दूर ही से सुनते हैं। यहां आँख, कान में एक अंतर भी है। आँख का दिखती हुई वस्तु से, दूर का ही सही, संपर्क तो होता जान पड़ता है पर कान तो दूर से भी किसी वस्तु के संयोग में नहीं आते। हवा में उठती तरंग-परंपरा ध्वनि और स्वर के रूप में गृहीत की जाती है - और ध्वनि और स्वर को हम 'वस्तु' कहें तो वस्तु की सामान्य स्वीकृत परिभाषा बदलनी होगी। इन्द्रियां हमें अगर किसी ठोस वस्तु-जगत् का बोध कराती हैं तो फिर कहना कठिन है कि कान को किस *वस्तु* का ज्ञान होता है। मैं सामने खड़ा पेड़ देखता हूं तो पेड़ की आकृति, रंग-रूप, गति (हिलना-डुलना), मुझे दिखते हैं। मुझे प्रतीति होती है कि आकृति, रंग, गति ये पेड़ के गुण-धर्म हैं - इन्हें जानता हुआ मैं पेड़ को जान रहा हूं, जो मेरे देखने से स्वतन्त्र एक वस्तु है। मुझे स्पष्ट-साक्षात् लगता है कि पेड़ का होना पेड़ के गुण-धर्मो का साक्षात् देखना है। छूने में भी ऐसा ही सीधा अपरोक्ष वस्तु-ज्ञान होता है – वस्तु कठिन हो, खाने में खट्टी हो, सूंघने में भीनी हो तो भी इन बोधों का स्पर्श हमारे लिये सीधा किसी वस्तु से बनता लगता है (काम-स्पर्श को यहां अलग रख रहा हूं - कामेन्द्रिय को ज्ञानेन्द्रिय कहा भी नहीं जाता, कहा जाये तो किस अर्थ में, समस्या ही लगती है)। कान को ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है - कान से हमें कुछ जानने का बोध होता ही है। पर हम पूछें कि कान से किस 'वस्तु' का 'ज्ञान' होता है, तो अटपटा प्रश्न होगा। वायु-तरंग का तो बिलकुल नहीं होता, जिसके संपर्क से ध्वनि और स्वर सुनते हैं। वायु-तरंग का ज्ञान तो अनुमान को आधार बनाता है, प्रत्यक्ष को नहीं। प्रत्यक्ष तो ध्वनि और स्वर होते हैं, जिन्हें वस्तु कहते संकोच होता है। या बात को यों कहना चाहिये -'प्राप्यकारी' का संकेत अगर वस्तु को पाने की ओर है तो सही अर्थ में अ-प्राप्यकारी कान ही हैं। आँख भी चाहे दूर से वस्तु को जानती हो, जनाती वस्तु को *पा* कर ही है। कान ऐसा कुछ नहीं जनाते जिसे दूसरी इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के समान 'वस्तु' कहा जा सके।

पर ये इन्द्रियां ज्ञान का ही नहीं, भोग का भी साधन हैं। इन्हें हम ज्ञानेन्द्रियां ही नहीं, भोगेन्द्रियाँ भी कह सकते हैं। इन्द्रिय-विषय का हम ज्ञान ही नहीं करते, भोग भी करते हैं। उनसे नये नये भोग साधते भी हैं। कान को ज्ञानेन्द्रिय कहने में हम सन्देह में पड़ भी जायें, भोगेन्द्रिय तो उसे निस्संदेह कह सकते हैं। भोग अपने वि षय के 'वस्तुत्व' की चिन्ता नहीं करता। भोगेन्द्रियों में इसलिये हम कार्मेन्द्रिय को भी गिनें तो मैं समझता हूं गिन सकते हैं। (कई लोग सबसे ऊपर ही शायद रखना चाहें)।

हम भोग साधते हैं तो उसके शिल्प भी साधते हैं। देखने की बात यह है कि भिन्न इन्द्रियों के भिन्न शिल्प साधते हैं। कई लोग तो सभ्यता का एक बड़ा लक्षण इन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शिल्पों में ही देखते-परखते हैं, और कहते हैं कि संस्कृति मनुष्य मात्र में होती है, पर सभ्यता इसके ऊपर का सोपान है। सभ्यता में ही भोग के शिल्प परवान चढ़ते हैं।

पर यहां जो बात सचमुच देखने-परखने की है वह बिलकुल और है। वह आत्मचेतना में ही एक ऊपर का सोपान दिखाती है। प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी इन्द्रियों के शिल्पों की ओर लक्ष्य करें तो एक गहरा भेद लिये बोध का तारतम्य उभरता है। प्राप्यकारी इन्द्रियों के शिल्प में : गंधी का, रसोइये का शिल्प; स्पर्श-साधना के विभिन्न शिल्प, ये प्रयत्न-साध्य, बुद्धि या विमर्श-साध्य होते हैं। इस तरह ये भी आत्मचेतन शिल्प ही हैं। तभी इनमें गुण-दोष विचार भी होता है। पर एक पते की बात देखिये : शिल्प-साधना का निकष इनमें इन्द्रिय ही होती है। गुण-दोष-विवेक स्पर्श और घ्राण के माध्यम से ही किया जाता है। इन्द्रिय को ही परीक्षक का आसन दिया जाता है; प्रमाण माना जाता है। यही कारण है कि ऐसे शिल्पों को हम ललित कला की कोटि में नहीं रखते। आँख और कान के शिल्पों को लीजिये तो भेद साफ़ उभर आता है। संगीत, चित्र, भास्कर्य, वास्तु ... बात इनमें भी हम भोग या आस्वाद की कर सकते हैं, पर यहाँ आयाम ही और होता है - भोग *रस* का रूप ले लेता है, जो फिर इन्द्रिय की बात नहीं रहती। इन्द्रियों से उठ कर चेतना के अपने स्वातन्त्र्य में स्थित हो जाती है। रस का भोग या आस्वाद इन्द्रिय से नहीं, संवेदना से ग्राह्य होता है, और संवेदना इन्द्रिय-तर्पण की नहीं, किसी अर्थ की भी तलाश करती है, जो आत्मचेतना का अपना क्षेत्र है। गुण-दोष का प्रमाण भी यहां इन्द्रिय नहीं आत्मचेतना की स्वतन्त्र संवेदना हो जाती है। इन्द्रिय-गम्य कलाकृति अब संकेत का साधन बन जाती है - रस का संकेत।

यहां कोई साहित्य की बात उठाना चाह सकता है। पर साहित्य की बात यहां प्रासंगिक नहीं होगी। साहित्य तो स्वरूप से ही इन्द्रिय-बोध से ऊपर सा उठा होता है। ग्रहण उसका भी आँख, कान से ही होता है, पर ग्रहण जिस का होता है - वाक् का - वह स्वरूप से ही निरिन्द्रिय पदार्थ है। वाक् के ग्रहण में आँख, कान, इन इन्द्रियों की भूमिका जटिल है, पर साहित्य के लिये हम यहां तक भी कह सकते हैं कि साहित्य अपनी सत्ता में ही जैसे दूसरी कलाओं से विपरीत मुड़ता दिखता है : साहित्य मानो वाक् के निरिन्द्रिय अर्थलोक को इन्द्रिय-बोध के बिम्बों में साकार कर देना चाहता है।

पर साहित्य की चर्चा यहां अभिप्रेत नहीं है। अभिप्राय यह देखना-दिखाना है कि इन्द्रियों के 'भोग' के भीतर से ही हम आत्मचेतना के इन्द्रिय से ऊपर उठते स्वातंत्र्य को उजागर होते देख सकते हैं। इन्द्रियों के शिल्पों में इन्द्रिय से निरिन्द्रियत्व की ओर मुड़ती आत्मचेतना की जो भिन्न भूमियां उभरती हैं उनके भेद को मैंने 'रुचि'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और 'रस' इन शब्दों से अभिहित किया था। प्राप्यकारी इन्द्रियां रुचि साधती हैं; 'अप्राप्यकारी', रस।

रुचि की भोग-साधना में साध्य की सिद्धि का प्रमाण इन्द्रिय होती है। पर रस में साध्य इन्द्रिय से इतना दूर जा निकलता है कि वहां भोग की ही बात बेबात सी लगने लगती है। वहाँ भी इसकी बात की तो जाती है पर बात में किरकिरी भी आ जाती है : रस को 'आस्वाद' की कोटि में रखना ही संवेदना को अखर सकता है। क्योंकि साधना वहां भोग की नहीं, अर्थ की होती है, जो आत्मचेतना का अपना इन्द्रिय-विमुक्त विषय है। रस की कृतियों के लिये मैंने 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग किया था। शब्द बहुत उपयुक्त नहीं भी लग सकता है। पर तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय ही यहां स्वतन्त्र अनिन्द्रिय-गम्य बोध का द्वार हो जाती है - भोग की वस्तु भोग-वस्तु न रह कर अर्थ का संकेत हो जाती है। रुचि की कृतियों में ऐसा नहीं होता। पर हां, 'प्रतीक' शब्द में कृति के संवेदना या सहृदयता-गम्य होने की ध्वनि स्पष्ट नहीं है। 'व्यंजनात्मक प्रतीक' कहना शायद अधिक उपयुक्त हो। पर 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग मैंने यह सोच कर भी किया था कि जिन इन्द्रिय-गम्य कृतियों की बात कर रहा हूं उन्हें साहित्य से भी अलग रखूं - साहित्य को यहां व्यावृत्त रखना ही उचित ठहरता है। भाषा को इन्द्रिय के विषयों में रखना कोटि-भ्रम तक कहला सकता है। भाषा में निरिन्द्रिय आत्मचेतना का स्वीकार अभ्रान्त है, जब कि मेरा उद्देश्य इन्द्रियों ही के माध्यम से आत्मचेतना के भीतर उभरती (या ऊपर चढ़ती) सीढ़ी को देखना-दिखाना है।

प्रतीक-निर्माण में हम आत्मचेतना का स्वातंत्र्य ही नहीं, आत्मचेतना का कर्म भी देख सकते हैं। ऐसा कर्म जहां चेतना अपने भीतर से बाहर मुड़ती हुई कुछ करती है। यही नहीं, *भीतर और बाहर को एक करते हुए* कुछ करती है। एक उभय-निष्ठ लोक का निर्माण करती है - बाहर भीतर के बीच एक सेतु बनाती हुई। इस व्यापार में बाहर और भीतर की एक संगति उभरती है जो दोनों के बीच अभेद का इंगित देती है। बाहर और भीतर मानो मिल कर कुछ साधते हैं। एक कर्म-क्षेत्र बनाते हैं, जहां शरीर और अशरीरी आत्मचेतना, इन दोनों की युगलबंदी उभरती दिखती है। प्रतीक-निर्माण के कर्म-क्षेत्र को कला-कर्म का क्षेत्र कह सकते हैं, और कला की भिन्न कृतियों में ही कहीं बाहर का तो कहीं भीतर का गौण-प्रधान भाव भी उजागर दिख सकता है।

फिर भी कला के प्रतीक-निर्माण-कर्म में हम कह सकते हैं कि यहां बाहर गौण और भीतर प्रधान है। कलाकृति में माध्यम की अपनी महिमा होती है जो बाहर की वस्तु होता है। हमें दिखता है कि माध्यम में ही कृति नहीं ढलती, माध्यम भी कृति को अपनी तरह से ढालता है। दोनों का एक परस्पर-भाव बनता है कलाकृति में। पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह भी दिखता है कि भीतर ही प्रधान है – संवेदना ही कहती है कि हां, कलाकृति बनी। माध्यम मूक होता है, परखने का काम संवेदना ही करती है। पर एक भिन्न कर्म-क्षेत्र को लीजिये—खेल-कूद, जिसका आजकल चेतना पर बड़ा साम्राज्य भी है। वहां बाहर ही प्रधान लगता है। खेल-कूद में साफ़ ही शरीर की भूमिका बड़ी होती है। एक तीखा, तह का प्रश्न हो सकता है यहां : शरीर को बाहर कहना चाहिये कि नहीं? सचमुच बाहर तो वह मृत्यु के बाद ही होता है। जब तक जीवित होता है तब तक उसे पूरी तरह बाहर तो नहीं कह सकते, फिर भी प्रकट ही उसका एक अपना यन्त्र-सदृश स्पंद होता है जो हम से स्वाधीन होता है - उस अशरीर आत्मचेतन शरीरी से स्वाधीन होता है जो खेल-कूद में शरीर को प्रयोग में लेता है। आशय यह कि शरीर आत्मचेतन शरीरी के अहम् से, उसके अपने वस्तुत्व से, अपनी स्वाधीनता से – और स्पष्ट ही उसके नियंत्रण की पूरी परिधि से – बाहर भी अपना अलग अस्तित्व रखता है। कलाकृति की तरह शरीर हमारी कृति नहीं है, न वह निश्चेतन माध्यम कहला सकता है। इसीलिये शरीर की गतिविधि को समझने का, शरीर की चिकित्सा का एक अलग विज्ञान है, जो शरीरी से अलग रख कर ही शरीर को कूतता है - शरीर-निष्ठ कर्त्ता से निरपेक्ष होता है।

पर साथ ही यह भी सच है कि शरीरी के बिना शरीर का कोई अर्थ नहीं। शरीर-निष्ठ कर्त्ता के कर्म-व्यापार में शरीर एक साधन होता है। कर्म में ही नहीं, हम देख सकते हैं कि ज्ञान में भी साधन होता है। ज्ञान में हम इन्द्रियों की भूमिका से इन्कार नहीं कर सकते। जिन्हें हम ज्ञानेन्द्रियां कहते हैं, वस्तुज्ञान में उन्हें बाहर के जगत् और ज्ञान के बीच सेतु कह सकते हैं। ये इन्द्रियां स्वयं बाहर हैं या भीतर, ठहराना संभव नहीं लगता। शायद इसीलिये ये मध्यस्थ का काम कर भी सकती हैं। सवाल उठे बिना नहीं रह सकता कि इन्द्रियां क्या शरीर-निष्ठ नहीं हैं? हैं तो ज्ञान भी शरीर-निष्ठ हो जायेगा, और इसका क्या अर्थ बनेगा? ज्ञान में प्रमाण-व्यापार का स्वातंत्र्य जो आत्मचेतना से आता है, उसकी क्या स्थिति होगी? इन्द्रियों को 'शरीर-निष्ठ' कहने का अर्थ शरीर-बाहर होते हुए भी शरीर-समाविष्ट हैं—जहां 'शरीर-बाहर' शब्द का संकेत ज्ञान की ओर हो। क्योंकि शरीर के बिना अगर इन्द्रियों की कल्पना नहीं की जा सकती तो ज्ञान के बिना भी इन्द्रिय को इन्द्रिय नहीं कह सकते। हम चाहें तो कह सकते हैं कि इन्द्रियां शरीर ही हैं - शरीर का ही अवयव हैं। इन्द्रियों के बिना शरीर को शरीर कहने का अर्थ ही क्या? शरीर और इन्द्रियों का अन्त भी साथ ही होता है। पर फिर यह भी सोचिये कि जिसे हम वस्तु-जगत् कहते हैं - और शरीर को भी जिसमें गिनते हैं - वह जगत् भी इन्द्रियों के बिना अकल्पनीय है। शरीर तो किसी अर्थ में इन्द्रियों के बिना भी कल्पनीय है - *जीवित* रह सकता है। प्राणों की धड़कन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बिना इन्द्रियों के भी शरीर में बनी रह सकती है : जैसे स्वप्न या सुषुप्ति में, और विशेषकर मृतप्राय शरीर को कृत्रिम उपायों से बचाये रखने में। तो भी ज्ञानेन्द्रियों के बिना वस्तुजगत् की कल्पना दूभर है। अब इन इन्द्रियों को शरीर के अवयव कहें भी तो उन्हें शरीर में सीमित कर देने का अर्थ नहीं बनता। उन्हें वस्तु-ज्ञान के अंतरंग के रूप में भी देखना अनिवार्य है। एक विचार कीजिये। मृत्यु के बाद वस्तु-ज्ञान की बात अटपटी लगती है, क्योंकि इन्द्रियों के बच रहने ही की बात अनहोनी लगती है। मृत्यु के बाद जो कूच करता है उसमें हमारी कल्पना आत्मचेतना को ही बड़ा करती है – और वहां भी संकल्प या कर्म-चेतना को। मृत्यु के बाद जो आपा बच रहता माना जाता है उस आत्म को कर्म का आपा या कर्मात्म कह सकते हैं। कर्म के माध्यम से ही उसे शेष चेतना पर व्याप्त देखते हैं। हां, लिङ्ग-शरीर की भी बात की जाती है जो बिलकुल दूसरी बात लग सकती है। वहां शरीर और अशरीर के युगल को एक सूक्ष्म शरीर का रूप दे दिया जाता है। इस संदर्भ में हम ज्ञान की भी बात कर सकते हैं। पर करें तो लिङ्गभूत इन्द्रियों की भी बात करनी होगी। उनका लिङ्ग-रूप क्या होगा? अगर हो तो फिर उनके समतुल्य ही होगा जिन इन्द्रियों को हम जानते हैं। फिर इन्द्रिय-विषयों के भी लिङ्ग रूप की बात करनी होगी और परिचित जगत् के समकक्ष एक लिङ्ग-जगत् खड़ा करना होगा, जहां लिङ्ग-कर्म और उसके लिङ्ग-फल की बात उठेगी। भविष्य के साथ सार्थक संबंध वहां भी कर्त्ता के कर्मात्म का ही बनेगा। क्योंकि गहराई से देखें तो हमारे लिये भविष्य के होने का सच्चा अर्थ ही कर्म के संदर्भ में बनता है, जहां कर्म को कृति-परिणति का अनंत क्षितिज मिल सके। ऐसे क्षितिज के बिना कर्म के *साधन* होने का अर्थ नहीं बनता। सार्थक कर्म *साध्य* की अनंत संभावना में ही पल सकता है। यही बोध कर्मात्म की धारणा का बीज भी जान पड़ता है। सच पूछिये तो लिङ्ग-शरीर की बात स्थूल का ही रूपान्तर लगती है - इंगित यही देती है कि इन्द्रिय का परिचित इन्द्रियत्व बना रहता है। 'वस्तु-ज्ञान के साधन' के रूप में भी बना रहता है। और अगर ऐसा है तो ज्ञानेन्द्रियों के लिङ्ग रूप को भी लिङ्ग-जगत् के छाया-लोक में किसी वस्तु-जगत् और ज्ञान के बीच का सेतु ही कहना उचित होगा। जैसे भी देखें, हमारे लिये ज्ञानेन्द्रिय भीतर भी उतनी ही है जितनी बाहर। ज्ञानेन्द्रिय की अपनी सत्ता को जैसे भी आँकें, उसे हम बाहर के जगत् और भीतर आत्मचेतन शरीरी के बीच का सेतु ज़रूर कह सकते हैं।

अपने आप में इन्द्रिय का स्वरूप क्या? प्रश्न टेढ़ा है। इस प्रश्न में यहां नहीं जाऊंगा। और ज्ञानेन्द्रियों को यों बाह्य-जगत् के ज्ञान का सेतु कहना कोई नई बात भी नहीं। वह जगत् क्या, उसका ज्ञान-चेतना से संबन्ध क्या, दोनों का युगल-रूप कैसा, इस पर विचार कई दिशायें ले सकता है, लेता ही रहा है। उसकी चर्चा में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जाना नहीं चाहता। मैंने ज्ञानेन्द्रिय के सेतु-रूप को यहां इसलिए उभारा है क्योंकि यही बात कर्मेन्द्रिय के बारे में कहना चाहता हूँ। अपने तीसरे लेख में, जो इस लेख से पिछला लेख है, उस लेख में मैंने इसी संदर्भ में कर्मेन्द्रियों की बात की है। यह कहना चाहा है कि कर्म के बारे में सोचें तो कर्मेन्द्रियों का वैसा ही महत्त्व उभरता है जैसा ज्ञान-विचार में ज्ञानेन्द्रिय का। विचार-जगत् में कर्मेन्द्रिय की बात की नहीं जाती, उन्हें 'इन्द्रिय' कहना भी एक उपचार जैसा ही माना जाता है। हमारी परंपरा में कर्मेन्द्रिय की बात की गई है पर वे किस अर्थ में इन्द्रियाँ हैं, इस पर कोई विमर्श नहीं है। हमारे विचारक और दार्शनिक 'इन्द्रिय' की बात करते हैं तो वे भी ज्ञानेन्द्रिय की ही बात करते हैं- कर्मेन्द्रिय की बात तो विचार-जगत् के बाहर ही की जाती है। इसलिये विचार के भी बाहर ही रही है।

पर हमने देखा कि इन्द्रियों को भोग के साथ जोड़ना उतना ही सार्थक है जितना कि ज्ञान के साथ जोड़ना - कुछ इन्द्रियों को तो भोगेन्द्रिय कहना ही अधिक समीचीन लगता है। मैं समझता हूँ कि 'कर्मेन्द्रिय' की धारणा में भी वैसी ही पकड़ की बात है। ज्ञानेन्द्रियाँ जैसे ज्ञान में बाहर से भीतर की सेतु हैं कर्मेन्द्रियां कर्म में भीतर से बाहर की सेतु हैं। सहज, अनायास सेतु हैं। मैंने अपनी चर्चा में क्रिया और कर्म का भेद करते हुए कहा था कि कर्म में क्रिया *समाविष्ट* होती है - कर्म का अंग होती है। कर्म निष्पन्न किया जाता है। निष्पादक के निष्पादन-व्यापार में क्रिया अन्तर्भुक्त हो सकती है। 'हो सकती है' इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि क्रिया-व्यापार को हम कार्य-कारण-भाव के साथ जोड़ते हैं। और कर्म के व्यापक अर्थ में, जहाँ विचार भी कर्म है, वहाँ कर्म की चेष्टा की बात करते हुए भी कार्य-कारण-भाव की बात नहीं कर सकते। ऊहापोह को कर्म तो कह सकते हैं पर वहाँ कार्य-कारण-निष्ठ क्रिया की बात असंगत है। ऊहापोह में प्रमाण व्यापार की बात है। यह व्यापार कार्य-कारण व्यापार नहीं है, यह आत्मचेतना का अपना स्वतन्त्र व्यापार है। क्रिया कार्य-कारण के अंतर्गत होती है। पर क्रिया के बिना कर्म की पकड़ पूरी नहीं हो सकती। हम शरीर के माध्यम से बाहर व्यवहार-लोक में जो कुछ करते हैं उसे ऐसी प्रक्रिया के बिना नहीं समझ सकते जिसमें कर्म और क्रिया दोनों का युगनद्ध समावेश न हो। तभी वहाँ भीतर-बाहर का निष्पादन-*सेतु* भी चाहिये जो क्रिया के कार्य-कारण और कर्म के औचित्य-बोध और स्वातंत्र्य का मध्यस्थ हो।

कर्मेन्द्रिय यह मध्यस्थता करती है। कर्म और क्रिया के बीच सेतु बनाती है। निष्पादन को भीतर से सहज बाहर ले आती है। कोई मध्यस्थ है भी, इसका अलग से बोध ही नहीं होता। इस निष्पादन में कर्म क्रिया-गर्भ होता है, क्रिया को अपने अन्दर समेटे रखता है। मैं हाथ बढ़ा कर कुछ लेता हूँ, देता हूँ, करता हूँ, बनाता हूँ,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

या सामान्य-भाव से कहें तो व्यापृत होता हूँ, जो है उसे औचित्य-बोध के साथ अन्यथा करता हूँ, कुछ बदलता हूँ - इस सारे *कर्म*-व्यापार में क्रिया भी काम करती देखी जा सकती है। वैसी ही क्रिया जैसी बाहर मुझे दिखती है : बादल के चलने में, पत्ते के गिरने में। मैं बाहर कुछ करता हूं - मूर्त्ति बनाता हूं या यन्त्र बनाता हूं तो वहां भी क्रिया का अनुभव होता है, पर कर्म के अनुषंग के रूप में - *उपाय* के रूप में। मूर्त्ति-कर्म और यन्त्र-कर्म, इन दोनों व्यापारों में मुझे अपने से अलग और स्वाधीन एक कार्य-कारण-भाव का बोध होता है। मेरी *करनी इस* कार्य-कारण को कर्म के अनुकूल साधती चलती है : यन्त्र बनाने में तो एक स्वतन्त्र कार्य-कारण व्यापार को मानो मैं अपने कर्म के माध्यम से एक विशेष श्रृंखला में पिनद्ध - अनुस्यूत - होता देख पाता हूँ। यन्त्र-निर्मिति एक विचित्र कर्म है, वहां मैं कार्य-कारण भाव का स्वातंत्र्य अपने *किये* से उभरता देखता ही नहीं, उसे उभारता भी चलता हूं।

पर मैं बाहर आता हूं तो कर्मेन्द्रिय के माध्यम से आता हूं। बाहर कुछ करना, एक आत्मबोध के साथ सामने-जो-है उसका अन्यथा-करण, सोच-समझ कर उसमें बदलाव साधना, यह एक बात है, और बस कुछ करने के लिए हाथ बढ़ा देना, यह बिलकुल दूसरी बात। सच पूछिये तो यही पहली बात है। क्योंकि अनायास हाथ बढ़ा पाना अगर न हो तो बाहर कुछ कर पाना भी संभव नहीं होगा। इन दोनों 'करने' में एक भेद है जिस पर यहां विचार उपादेय लगता है। पहली चेष्टा में, विमर्श के साथ कुछ करने में, एक व्यवधान सामने आता है जिसे मैं किसी उपाय से हटाता हुआ कुछ करता हूँ। कार्य-कारण विचार करता हूं, यों करने से यों होता है, यह देखता-परखता हूँ, इसके नियम-नुस्खे टटोलता हूँ, करते-परखते हुए रास्ते बनाता हूँ। उधर बढ़ना चाहूं तो इन रास्तों को माँजता-बढ़ाता हूं, इन रास्तों की परंपरा भी पनप-चमक सकती है, जैसे आज विज्ञान की है। इस रास्ते सोचता हूँ तो कार्य-कारण की बात करता हूँ - ऐसा करने से ऐसा हुआ, अन्यथा नहीं होता : इसलिए एक कारण है, दूसरा कार्य।

यहां एक प्रश्न उठता है कि कार्य-कारण की बात हम ज्ञान में भी करते हैं – ज्ञानेन्द्रिय को कारण और वस्तु-ज्ञान को कार्य कहते हैं। लेकिन अगर हम केवल ज्ञाता हों, कर्त्ता हों ही नहीं, तो क्या कार्य-कारण का बोध सम्भव होगा? सम्भव नहीं दिखता। न आवश्यक दिखता है। विशुद्ध ज्ञाता को जगत् कैसा दिखेगा? कुछ कुछ होता दिख सकता है। एक घटनावली दिखेगी जहाँ एक कुछ होने के बाद दूसरा कुछ होता दिख सकता है, इसमें एक योजना या श्रृंखला भी दिख सकती है, जिन वस्तुओं के बीच योजना दिखेगी वे कैसी होंगी, उनमें क्या भेद होगा, प्रश्न हो सकता है, क्योंकि हमारा परिचित देखना हमारे कर्तृत्व से अछूता नहीं कहा जा सकता। हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बहुत कुछ जो देखते हैं अपना ही बनाया हुआ देखते हैं, और हमारे देखने की आँख इस बात से कितनी प्रभावित है, यह निश्चित करना कठिन होता है। पर चलिये मान भी लें कि *वस्तु*-दृष्टि यही रहेगी जो अब है, तो भी क्या कार्य-कारण-बोध भी बना रहेगा? इसका क्या आधार होगा? 'इसके कारण यह हुआ' इस बोध में एक निबिड़ अभिप्राय निहित है कि कारण ने कार्य को 'जन्म' दिया। इस दृष्टि में यह बोध तब आधार नहीं पायेगा। यह 'करते' का बोध है, 'देखते' का नहीं। ज्ञानेन्द्रिय का भी बोध हो तो भी ज्ञान और ज्ञानेन्द्रिय के बीच कार्य-कारण-बोध का कोई निमित्त नहीं होगा। आपत्ति हो सकती है कि जो दिखता है उसके घटना के रूप में क्रम-बद्ध दिखने में ही कार्य-कारण-बोध निहित है। इस बोध का काल-बोध से संबंध है, और काल-बोध के लिये उन इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं जिनका संबंध बाह्य-जगत् से है। काल-बोध अंतरिन्द्रिय को होता है जो भीतर ही देखती है, जिसे हम चित्त कहते हैं। उसका बोध यह कराती है - दुःख-सुख, इच्छा-अनिच्छा...। संशय हो सकता है कि बिना शरीर के इन्द्रिय की बात ही बनती नहीं दिखती। अंतरिन्द्रिय को फिर इन्द्रिय कहने का क्या आधार? अंतरिन्द्रिय का हमें अलग से कोई अनुभव भी नहीं होता, जैसा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय का होता है। चित्त की अनुभूति में चित्त और अनुभूति के बीच कोई माध्यम या सेतु है, ऐसी कोई प्रतीति नहीं होती। अंतरिन्द्रिय को एक कहें, अनेक कहें, इस विवेक का भी कोई द्वार नहीं दिखता। उलटे दिखता यही है कि शरीर-निष्ठ इन्द्रियों को ही *विचार* में निदर्श बना कर *उत्प्रेक्षा से* अंतरिन्द्रिय की बात की जा रही है। बात लक्षणा से ही बनती है, किसी साक्षात् बोध से नहीं। फिर ऐसी इन्द्रिय हो भी तो उससे हमें कोई सुशृंखल काल-क्रम-बोध कैसे होगा, समझ में नहीं आता ऐसा परिनिष्ठित, योजनामय क्रम-बोध, जो कार्य-कारण-भाव में उभरता है, कैसे संभव है? सच तो यह है कि हमें इच्छाओं में, सुख-दुःख में चित्त की घटनाओं में ही कोई क्रम-*शृंखला* का बोध होता नहीं लगता। बल्कि चित्त का बोध तो घटनाओं का ऐसा गड्डमड्ड ढेर जान पड़ता है जहां अकसर घटनायें स्पष्ट अलग अलग भी घटती नहीं दिखतीं। हां, विचार करें तो क्रम ऊपर आता है। पर इस क्रम का संबंध विचार के अपने अंतःसंबंध से बैठता है, और विचार का अपना क्रम-बोध, जो युक्ति-तर्क में, गणित में उभरता है, वह इन्द्रिय से ही नहीं, काल से भी परे है। कार्य-कारण से असंबद्ध है। उसे काल में रखना ही कठिन है – काल-क्रम के बोध का *जनक* तो उसे कहा ही नहीं जा सकता।

इन बातों को मान भी लें तो भी यहां काल-बोध को चित्त-बोध से जोड़ने के समर्थन में युक्ति दी जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि चित्त का बोध ही काल-निष्ठ है, जैसे कि देश का बोध बहिरिन्द्रिय-निष्ठ है। कांट से कुछ अलग हट कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किसी अंतरिन्द्रिय को माने बिना भी यह बात की जा सकती है। हम कह सकते हैं कि जैसे हमारे बहिर्बोध की बोध-*प्रकारता* ही देश को लिये होती है, जो देखती है देश के माध्यम से ही देखती है, उसके देखने में ही देश-बोध एक ऐसे साँचे की तरह होता है कि जो कुछ देखता है, देश की आकृति में ढाल कर देखता है, वैसे ही चित्त का बोध काल-मय होता है। कह सकते हैं कि चित्त न हो तो काल-बोध न होगा – वही काल का आक्षेप करता है।

पर इतना स्वीकार कर लें तो भी क्रम की समस्या रह जायेगी। हमारा कार्य-कारण- बोध काल और क्रम दोनों की मांग करता है। इसका सच्चा अनुभव हमें कर्म में ही होता है - कर्मेन्द्रिय से किये गये व्यवस्थित कर्म में। कार्य-कारण-बोध की द्वार कर्मेन्द्रिय है – न ज्ञानेन्द्रिय, न कोई अंतरिन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रिय के पक्ष में एक गौण सा तर्क और दिया जा सकता है – शायद। हम कह सकते हैं कि जब इन्द्रियों के माध्यम से हम ज्ञान का ग्रहण करते हैं तो यह अनुभव भी करते हैं कि अमुक इन्द्रिय का वस्तु से सन्निकर्ष हुआ जो पहले नहीं था और *इस कारण* यह ज्ञान उत्पन्न हुआ। पर इन्द्रिय का सन्निकर्ष देह के माध्यम से होता है और देह को हम वस्तु के पास या दूर ले जाते हैं : यों कह सकते हैं कि देखने में भी देह से हम कुछ करते हैं। आँख को वस्तु की ओर करते हैं। लेकिन जब कुछ *देखते* हैं तो देखने का ही अनुभव होता है, कार्य-कारण का नहीं। कार्य-कारण का यहाँ मैं अनुमान कर सकता हूँ, जो आत्मचेतना का स्वतन्त्र प्रमाण-व्यापार है। पर यह *देखने* के बाद ही व्यापृत होता है। कार्य-कारण की सीमा देखने तक ही होती है और देखना क्रिया-गर्भ कर्म है। *दिखने* के ज्ञान का होना उसके घेरे में नहीं आता। कार्य-कारण-परंपरा की डोर को हम कितनी ही अणु घटनाओं में ले जायें, वह कुछ दिखा, इस आत्मबोध को अपने भीतर नहीं समेट सकती। वहीं तक बनती दिखती है जिसे बाहर का होना कह सकते हैं – ज्ञान का होना उस डोर से दूर, अलग ही रहता है। कैसे दिखा?इस परीक्षा का कोई भी प्रमाण-व्यापार देखने के आत्मबोध को ऊह्य रख कर होता है – कैसे देखा? यह प्रश्न उस स्वतन्त्र चेतना का होता है जो चेतना प्रमाण-व्यापार में स्वैर व्यापृत होती है। कार्य-कारण भाव को अपनी जांच का उपाय बनाती है। पर हम यह पूछें कि कार्य-कारण का आत्म-बोध आया कहां से? तो उसकी योनि देखने में नहीं, करने में दिखती है।

कार्य-कारण-बोध का बीज बाहर कुछ अन्यथा करने में है – शरीर के माध्यम से सुयोजित अन्यथा करने में। किसी नियत क्रम का वहीं बोध होता है। देखना क्रम-बाहर होता है। यह भी देखिये कि हम कुछ कर के कुछ बनाते-साधते न हों तो चित्त के बोध मात्र से *नियत* क्रम की धारणा का भी उदय होता नहीं दिखता। काल का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बोध चित्त-संक्रान्त हो भी तो भी काल के नियत क्रम से आगे बढ़ने का बोध चित्त के माध्यम से नहीं, कर्म में ही होता दिखता है। यह बोध चित्त के काल-बोध से ही नहीं, विचार-व्यापार में जो काल-बोध हो सकता है उस से भी यह अलग है। किसी भी कर्म की तरह विचार में भी हम अन्यथा करते रहते हैं। विचारों को जोड़ते-तोड़ते हैं, विचारों के माध्यम से कुछ साधते हैं। पर वहाँ कार्य-कारण भाव का बोध नहीं होता। कार्य-कारण का मूल बोध *शरीर से* कुछ करने में होता है - बाहर की गई चेष्टा या प्रयत्न में। कर्मेन्द्रिय जिसका द्वार है।

कर्मेन्द्रिय की चेष्टा के साथ एक भीतर का बोध – कुछ करने की एक उन्मुखता या प्रवणता – भी होती है (जो कम या अधिक जागरूक हो सकती है)। आत्म-चेतना में यह बोध 'मैं कर रहा हूँ'- का रूप लेता है। या यों कहिये कि इसकी उपस्थिति ऊह्य रहती है, इस तरह से कि हम अवधान दें तो उजागर हो जाती है। वैसे ही जैसे कि किसी ज्ञान में यह आत्मबोध कि 'मैं जान रहा/जान रही हूँ' ऊह्य रहता है। चेष्टा के इस भीतर अनुभूत होते संकल्प-अंश को बाहर अपनी साध पूरी करने में व्यवधान की अनुभूति भी हो सकती है, जहां कुछ करने के लिये किसी उपाय की आवश्यकता होती है। यही कार्य-कारण-बोध का बीज है।

पर यह भी देखिये कि हमारी साध को भीतर से बाहर *आने में* किसी व्यवधान की अनुभूति नहीं होती। 'मेरा हाथ बढ़ाना और हाथ बढ़ाने की चाह' - यहाँ चाह और राह के बीच कोई बाध नहीं होता। बल्कि यहाँ चाह से अलग कोई 'राह' है, ऐसी भी अनुभूति नहीं होती। मैं बस हाथ बढ़ाता हूँ।

कर्मेन्द्रिय इस अव्यवहित कर्म को सम्भव करती है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय बाह्य विषय को सहज ही, स्वभाव से ही, स्वत: भीतर उजागर कर देती है उसी प्रकार कर्मेन्द्रिय अनायास भीतर की उन्मुखता को बाहर के प्रांगण में ला खड़ा करती है। ज्ञानेन्द्रिय का जहाँ तक ज्ञान के चेतन प्रकाश से सम्बन्ध है वहाँ उसके साथ 'यह शरीर की वस्तु है' यह विशेषण नहीं जोड़ा जा सकता – अगर हम शरीर का अर्थ 'जड़' लें, जिसे कि स्वभाव से ही अचेतन, अप्रकाश कह सकें, जैसा कि कहा ही जाता है। कर्मेन्द्रिय पर भी इसी बात को उतारिये। साफ उभरता है कि कर्मेन्द्रिय भीतर के संकल्प और बाहर की करनी के बीच सेतु है – ऐसा सेतु जिसे उभय-धर्मी कह सकते हैं, जिससे संकल्प का सीधा सूत्र बाहर के उस किये जाने से जुड़ता है जो कि क्रिया का सहधर्मी होता है। संकल्प के साथ की गई क्रिया - कार्य-कारण का बोध यही जगाती है।

कर्मेन्द्रिय के व्यापार में चेतना का स्वातंत्र्य देह के कार्य-कारण भाव से अनायास ही – अत्रुटित भाव से ही – जुड़ जाता है। कोई गाँठ बीच में नहीं पड़ती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(हाँ, विचार के लिये यह बात एक न खुलती सी गुलझट हो भी सकती है) । कर्मेन्द्रिय के व्यापार में चेतना का स्वातंत्र्य देह के कार्य-कारण भाव से अनायास ही, अत्रुटित भाव से ही - जुड़ जाता है । कोई गाँठ बीच में नहीं पड़ती । (हाँ, विचार के लिये यह बात एक न खुलती सी गुलझट हो भी सकती है) । सोच कर देखें तो कर्मेन्द्रियों में हम भीतर का बाहर से सीधा सम्बन्ध पाते हैं – जहाँ भीतर बाहर निकल कर कुछ करता है, बाहर को अपने अनुकूल साधता है, या वहाँ अपना घर बनाता है । अपना विस्तार करता है ।

कर्मेन्द्रियों में हम जीव मात्र का निष्पाद्य-निष्पादक रूप देख सकते हैं । जीव मात्र बाहर कुछ अनुकूल साधता है - जिजीविषा के अनुकूल । कई जीवों में यह अधिक खुली हुई, विवेक-व्याक्रिया-करती चेतना के साथ घटता हुआ भी दिखता है - गायों में, कुत्ते-बिल्लियों में ...। पर ठीक ठीक आत्मचेतना के साथ यह भाव मनुष्य से ही जुड़ता है । इस बात का एक इंग़ित यह भी है कि मनुष्य में निष्पादन के साथ अर्थ की साधना समा जाती है - औचित्य जिसका सहोदर है । कलाकृति के बनाने में यह बात साफ सामने आती है । पर और भी साधारण दृष्टान्त लीजिये । बोलने या लिखने में हम भीतर से बाहर की इस ग्रंथिहीन यात्रा को और आत्मीय भाव से देख सकते हैं । हमारी विवक्षा -कुछ कहने की साध - अर्थ को पकड़ती हुई पहले उपयुक्त शब्द चुनती है, फिर मुख-विवर ठीक खोलती हुई, जीभ को ठीक स्थान पर रखती हुई, वायु प्रक्षेप के समीचीन कौशल से बात कहती है, सुननेवाला उसे ध्वनि-वर्णों के माध्यम से लेता हुआ 'समझ' जाता है । लिखने-पढ़ने में भी कुछ ऐसा ही होता है । या गाने में, गाना सुनने में, यहां भी एक समान-धर्मी व्यापार होता है । कहने से सुनने तक की बाहर-भीतर की यह दोहरी यात्रा सहज ही निष्पन्न हो जाती है, जिनके बीच विचार में हम जड़-चेतन का चरम सा व्यवधान देखते हैं, वे आपस में घुलमिल कर काम कर लेते हैं, कहीं बल नहीं आता ।

कर्म का यह व्यापार बाहर एक साध्य-साधन-लोक बनाता है जिसे उपाय-लोक कह सकते हैं । कला ऐसा ही लोक है, खेल-कूद को भी ऐसे लोकों में रख सकते हैं । कह सकते है कि बाहर के लोकों का एक व्यापक धरातल बनता है, यही हमारा व्यवहार-लोक है । कर्म-भूमि । और जैसा ऊपर विवक्षा के दृष्टांत से उभरता है, यहां हम दूसरों के संगी होते हैं । व्यवहार-लोक समाज-लोक भी है, जहां मैं अन्य ऐसों के साथ होता हूं जिन्हें मैं अपने मैं स्थान दे सकता हूं । मनुष्य का समाज-लोक औचित्य-बोध में समोया रहता है । वहां व्यवस्था है, पर चींटियों की तरह व्यवस्था सर्वस्व नहीं है, कि व्यवस्था ही नियन्त्रित करती हो । व्यवस्था के साथ स्वातंत्र्य है – औचित्य-बोध में समोया आत्मचेतन स्वातंत्र्य । तभी मनुष्य का समाज-लोक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संस्कृति-लोक भी है, जिसे भारत में धर्म द्वारा परिभाषित किया गया है। तात्पर्य यही है कि मनुष्य की रहनी औचित्य-बोध में बसी है। मनुष्य की रहनी व्यष्टि-समष्टि को अलग रखते हुए भी दोनों को एक में गूँथती हुई एक धरती बनाती है - धर्म इसी का धारक है; और धर्म के हम धारक हैं। मनुष्य की रहनी का औचित्य-गर्भ लोक धारण चाहता है। संस्कार-व्यवस्था, आचरण-शील–व्यवस्था, परिवार-समूह-संस्थान-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, और सबसे बढ़ कर राज्य-व्यवस्था, मनुष्य की रहनी के आधार कहे जा सकते हैं। इसी को मैं व्यवहार-लोक भी कहता आया हूं। भाव, ज्ञान, विचार, यहां तक कि अध्यात्म साधना की, ऐसी प्रवृत्तियों की जिन्हें हम पुरुषार्थ कह सकते हैं, इन प्रवृत्तियों को नींव देती है यह व्यवस्था-भूमि। कला-कर्म, खेल-कूद इन्हीं प्रवृत्तियों में हैं। व्यवहार-लोक एकं विराट् अर्थ-लोक है, जिसके औचित्य-समग्र को धर्म कहा गया है। ज्ञान, भाव, विचार, अध्यात्म से कर्म के अपने औचित्य को व्यावृत्त भी यही लोक करता है। यह बाहर का लोक है, कर्मेन्द्रिय जिसके लिये द्वार बनती है।

पर एक बात और उभरती है। यहाँ 'बाहर' का अर्थ भीतर से बाहर को अलग करना, विविक्त या व्यावृत्त करना नहीं है। किसी भी अर्थ-लोक में भीतर-बाहर युगनद्ध होता है। कला का लोक लीजिये। या भाषा का लोक, जहां बात और भी स्पष्ट है, इसलिये भी कि भाषा हर अर्थ-लोक का अंग होती है। अर्थ-लोकों में भीतर–बाहर युगनद्ध होते हैं। भाषा में यहां, विवक्षा की प्रक्रिया को देखते हुए, लक्षणीय यह है कि *कर्मेन्द्रिय* भीतर – बाहर को परस्पर पिनद्ध करने का सहज साधन बनती है। क्योंकि कर्मेन्द्रिय की उपस्थिति भीतर-बाहर उभयमुखी होती है।

यहाँ *विचार* में एक पहेली जागती है, अनबूझ सी पहेली, जो विचार में सदा जागृत रही है : जिसे हमने भीतर का स्वातंत्र्य कहा, वह बाहर के कार्य-कारण भाव से कैसे सम्पृक्त होता है? दोनों में भेद ही नहीं आत्यन्तिक तत्त्व-भेद उभरता है : एक चेतन ही नहीं, बल्कि प्रवृत्ति में आत्मचेतन, औचित्य-बोध में बसा हुआ है, कर्मशील है। दूसरा जड़ है, यन्त्रवत् क्रियाशील - परतन्त्र। जहां ऐसा चरम तत्त्व-भेद हो वहां भीतर से बाहर का सेतु बन ही कैसे सकता है?

पर बनता ही है। तो फिर इस भेद को आत्यन्तिक कहने का अर्थ क्या? अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि दोनों में सम्बन्ध ही नहीं है। आत्यन्तिक भेद की बात यहां विचार ही उठाता है। पर विचार में क्या दोनों परस्पर सर्वथा, आत्यन्तिक भाव से असम्पृक्त रहते हैं? ऐसा हो तो विचार की भेद-दृष्टि में भी दोनों साथ कैसे रह सकते हैं? दोनों के भेद को देखना-परखना, यह काम सापेक्ष दृष्टि ही कर सकती है जिसके सापेक्ष भाव में दोनों एक ही मनन में अभिन्न होते हैं। एक-दृष्टि-बद्ध होते हैं। यही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कारण है कि विचार चाहता है तो दोनों के सम्बन्ध भी उभारता है, यहां तक कि जड़ या चेतन के अद्वैत की मुद्रा लेते हुए सब जड़ है, या सब चेतन है, ऐसी आत्यन्तिक अभेद दृष्टि भी अपना सकता है। जड़-सर्वस्व के ऊह में ही विचार अपनी गति को उत्प्रेक्षा से एक सर्वतोमुखी रूपक में ढालते हुए सब कुछ को, विचार को भी, यन्त्रवत् कार्य-कारण भाव में समेट लेना चाहता है।

जगत् की गतिविधि मात्र के लिये जो यन्त्र की उपमा दी जाती है उसे थोड़ा परख कर देखिये। एक तो देखिये यन्त्र हम ही बनाते हैं, उन्हें काम में लेते हैं। विचार में जगत् को यन्त्र के रूपक में ढालते हुए हम यह नहीं सोचते कि जो विचार यह दृष्टि साध रहा है उस दृष्टि को भी कार्य-कारण भाव में समेट लेने का कोई अर्थ नहीं बनता। फिर देखिये कि यन्त्र में एक अर्थवत्ता, एक प्रयोजनीयता होती है, एक साध्य-साधन भाव होता है जो हमारी चेष्टा-विशेष का फल होता है। हमारे बनाने से बाहर यन्त्र की सत्ता, यन्त्र का विचार भी, कल्पना-बाहर है। इस बनाने में हमें एक व्यवधान का अनुभव होता है। अपनी साध में, और जिस माध्यम में उसे रूप देना चाह रहे हैं उनके बीच, एक अवरोध-रूपी भेद का अनुभव होता है। पर भेद के साथ ही सम्बन्ध का भी बोध होता है, नहीं तो अवरोध का भी कोई अर्थ नहीं होगा, बनाने का कर्म बनेगा ही नहीं। भेद के इस अनुभव में भी अपनी तरह की एक अभेदमयी सापेक्षता होती है। कर्मेन्द्रिय में हम पाते हैं कि भीतर का स्वातंत्र्य सहज निरवरोध के साथ बाहर आता ही है। कर्मेन्द्रिय के व्यापार को क्या यन्त्र जैसे कार्य-कारण की पकड़ में लाया जा सकता है? यन्त्र बनाना ही क्या सम्पूर्ण यन्त्रवत् प्रक्रिया होती है? हो सकती है?

कर्मेन्द्रिय के अनुभव को विचार का आधार बनायें तो ऐसा कह सकते हैं। यहाँ तक कह सकते हैं कि हमारी कार्य-कारण भाव की धारणा ही कर्मेन्द्रियों से कुछ करने के अनुभव का परिणाम है। साथ ही, मैं समझता हूं, हम यह भी कह सकते हैं कि कर्मेन्द्रिय के निष्पादन-कर्म में जो अवरोधमय व्यवधान-बोध होता है वह जड़-चेतन को तत्त्व-रूप से भी नितांत भिन्न समझने के बोध का बीज है। पर जड़-चेतन का भेद हमारे लिये केवल बुद्धि की, केवल विचार की एक व्यावृत्ति की ही बात नहीं, यह भेद-बोध चेतना में और व्यापक हो कर छा जाता है, अनुभव की नस को छूता है, विचार को व्याकुल करता है। भेद में व्यावृत्ति की ही नहीं, एक अनुभूत विरोध की बात है। लगता है इसकी जड़, कर्म के मूल में ही जो अवरोध का अनुभव होता है उस आदि अवरोध में बसी है। ज्ञान के मूल में जो विरोध है वह ग्राह्य और ग्राहक का विरोध है (विषय और विषयी का भेद है)। इसमें किसी अवरोध की तो क्या विरोध की भी अनुभूति नहीं होती। विषयी और विषय में जो *दूरी* होती है – जिसे अवरोध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कदापि नहीं कह सकते – वह दूरी भी द्रष्टा के पीछे हट कर विषय-विषयी दोनों को एक ही विषय-सम्पुट में रख देने पर विलीन हो जाती है। एक नया विषय-विषयिभाव उभरता है जो एक और नये प्रत्यक् ज्ञान का विषय हो सकता है। और यह प्रत्यक् व्यापार अंतहीन जान पड़ता है। यह व्यापार जिस भेद को जन्म देता है, या व्यंजित करता है, कहना चाहिये जो भेद सांख्य दर्शन में उभरता है, वहां आत्म और विषय के बीच आत्यन्तिक तत्त्व-द्वैत की ही दृष्टि बनती है। पर यह आत्यन्तिक तत्त्व-भेद उस भेद से भिन्न है जिसे हम साधारण तौर पर जड़-चेतन का भेद कहते हैं। जड़-चेतन का यह भेद किसी अतल-उतरते प्रत्यङ्मुख व्यापार को आधार नहीं बनाता, अनुभव और व्यवहार के मामूली स्तर पर ही उभरता है। क्योंकि सांख्य के लिये, जिसे हम जड़-चेतन कहते हैं, दोनों ही विषय हैं। चेतना यहां निर्विषय आत्म – सांख्य का पुरुष – नहीं है। यह चेतना कर्तृत्त्व चेतना है, या बुद्धि चेतना। दोनों ही सविषय होते हैं। सांख्य का पुरुष विशुद्ध द्रष्टा है, विषय-विषयी भाव के भी परे है। विषय से ही नहीं, जिसे हम चेतन विषयी कहते हैं, उससे भी अस्पृष्ट है। विचार में व्यंजित इस भेद को सचमुच आत्यन्तिक कह सकते हैं। जड़-चेतन के बीच किये जाते साधारण भेद में वैसी आत्यंतिकता नहीं है, क्योंकि वहां सापेक्षता का एक परस्पर-भाव बना रहता है, जिसका बीज हमारी कर्म-चेतना में ही ढूंढना चाहिये। वह कर्मात्म विषयी का अपने विषय से भेद है, जो अवरोध-बोध के चलते आत्यन्तिक प्रतीत होता है।

अवरोध का यह बोध निष्पादन का भी बोध है, जो कार्य-कारण भाव का बीज कहा जा सकता है, जहां एक और सापेक्षता बनी रहती है जो अवरोध से विपरीत दिशा लेती है, जिसमें भिन्न घटनाओं के बीच एक नैरन्तर्य की डोर बनती दिखती है, जहाँ हम यह जानते हैं कि एक घटना दूसरी को घटित *करती* है। हम कर्मशील न हों तो यह भाव या बोध बाहर क्रिया के रूप में दिखे, इसका कोई आधार नहीं बनता। यह हमारी कर्म-चेतना का बोध है। कर्मेन्द्रिय-बोध न हो तो प्रत्यक्ष या अनुमान में भी यह कहाँ से आयेगा? विशुद्ध प्रत्यक्ष में, या यों कहें कि केवल ज्ञानेन्द्रियों के देखने में, तो बाहर कार्य-कारण भाव की ऐसी कोई डोर बननी आवश्यक ही नहीं है जहाँ घटना की ऐसी श्रृंखला बनती हो कि एक कड़ी दूसरी को जन्म देती दिखे और दोनों में एक अन्त:सम्बन्ध बना रहे : जिसके बिना बात कार्य-कारण की नहीं, यादृच्छिक संयोग की होगी। अब, क्योंकि ज्ञान बिना योजना के कुछ देख ही नहीं सकता इसलिये हो सकता है बाहर के होने में हमें कोई योजना दिखे और उसके आधार पर हम वस्तु-संबंधों के नियम भी बनायें – किसी भी योजना को नियम में ढाला ही जा सकता है। तो भी कोई कारण नहीं कि कार्य-कारण का नियम दिखे। मान लीजिये कि गणित के व्यवस्थित अंकों की तरह एक क्रम भी उभरता दिखे - ऐसा क्रम जिसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लिए काल की आवश्यकता ही नहीं या काल जिसके लिए एक पटल मात्र है, जैसे गणित के अंकों के लिए कागज का पन्ना या पाटी या ब्लैक-बोर्ड। तो भी उस क्रम का किसी निरंतर आगे बढ़ते काल के साथ संबंध कैसे बनेगा? गणित की क्रम-व्यवस्था के लिये किसी कार्य-कारण-बोध की आवश्यकता नहीं है। काल की तो और भी नहीं है। काल का बोध हो भी तो गणित के क्रम से क्यों जुड़ेगा; आगे-पीछे दोनों ओर की गति में भेद कैसे करेगा? और फिर जैसा ऊपर कह आया हूं, चित्त-बोध के माध्यम से काल-बोध हो भी तो भी उसके साथ क्रम-बोध का भी होना आवश्यक नहीं है। यही नहीं, ज्ञान के व्यवस्था-बोध के लिये गणित अनिवार्य नहीं है, गणित-भिन्न दृष्टि भी रख सकता है यह बोध। किसी व्यवस्था से बँधा भी नहीं रहता है व्यवस्था को संभावनात्मक रूप में रखते हुए यह भी सोच सकता है कि व्यवस्था कुछ और भी हो सकती थी; या व्यवस्था को यह एक बदलती हुई व्यवस्था के रूप में भी देख सकता है। नितान्त अव्यवस्था के रूप में ज्ञान जगत् को *देख* नहीं सकता, (हालांकि अव्यवस्था की *कल्पना* कर सकता है)। पर जैसी भी व्यवस्था के रूप में देखे - व्यवस्था को काल-निष्ठ भी देखे - तो भी कर्मेन्द्रिय के अनुभव के बिना कार्य-कारण भाव की दृष्टि से व्यवस्था को नहीं देख सकता और इसके बिना यन्त्र बनाने की बात भी नहीं बनती।

आपत्ति हो सकती है कि कर्मेन्द्रियों में जो चेष्टा है, सामर्थ्य या शक्ति के साथ जो कुछ करने का भाव है, उसका हम अपने भीतर कर्मेन्द्रियों के बिना भी बोध कर पाते हैं। साँस लेने को ही लीजिये; और भी भीतर उतरें तो संयम से इच्छा को दबाने की चेष्टा को ले लीजिये। यह बात सच है, पर यह आपत्ति इष्टापत्ति ही है। ऐसी चेष्टाओं को कर्मेन्द्रिय से अलग करने की बात तभी उठ सकती है जब कर्मेन्द्रिय को हम भीतर स्थान देना ही न चाहें। उसे बाहर ही रखें। पर कर्मेन्द्रिय तो भीतर भी होती हैं। भीतर के ही प्रयत्न को बाहर ले आती है। हमने ऊपर विवक्षा – कुछ कहने की चेष्टा – की बात की ही थी। वहाँ नितान्त भीतर की चेष्टा बाहर आती ही है। वहाँ जिह्वा कर्मेन्द्रिय का काम करती है। प्रश्न हो सकता है कि कर्मेन्द्रिय किसे कहें, कितनी हैं कर्मेन्द्रियाँ? उनमें अन्तर क्या है? पर इस प्रश्न में नहीं जाऊँगा। अधिक मूलगत प्रश्न यह होगा कि कर्मेन्द्रियों को चेष्टा मात्र से जोड़ें तो बाहर-भीतर का भेद ही क्या?

सच तो यह है कि मूलगत भेद ज्ञान और कर्म के बीच है। कर्म शरीर चाहता है ज्ञान नहीं। और कर्म की वह भूमि जिसे बाहर कह सकते हैं, वही कार्य-कारण की भूमि के रूप में भी उभरती है। इस भूमि का आरंभ और अंत कहां है, प्रश्न हो सकता है। इस भूमि की सीमा क्या? उसका घेर क्या? ऐसी किसी सीमा की बात तो एक धुँधला सा बोध ही हो सकता है। जिसे हम कार्य-कारण की भूमि कह रहे हैं वह कोई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ठोस धरती नहीं जिसे नियत रेखाओं में कसा जा सके। पर जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं उसे इस सीमा में रखा जा सकता है। पर उसका ज्ञान, भाव, कर्म से संबंध है ही। इन्हें कार्य-कारण की सीमा में कस देने का अर्थ नहीं बनता। प्रयोग-धर्मी आधुनिक विज्ञान कार्य-कारण को ही सृष्टि-सर्वस्व मानते हुए, उसका अपना नियम-तन्त्र तलाशने का जो बीड़ा उठाता है वह सब कुछ को इस के घेरे में ला दिखाने की ललक है। पर हम देख आये हैं कि इसका कुछ अर्थ नहीं बनता। चेष्टा के भीतर ही स्वतो-विरोध उभरता है। बात पहेली ही रह जाती है। हम इन्द्रिय-बोध को प्रमाण रख कर जिसे बाह्य जगत् कहते हैं, विज्ञान उसे कार्य-कारण के पसारे में देखने का आदी रहा है। पर वह अंतर्जगत् को भी इसी के भीतर समेट लेने का भी प्रण पालता है, जहां चेतना का किसी सार्थक रूप में कोई स्वातंत्र्य नहीं, उसकी अपनी सत्ता नहीं। हम देख चुके हैं कि ऐसी जगत्-दृष्टि विकट समस्या खड़ी करती है। आत्मचेतन प्रमाण-व्यापार के स्वातंत्र्य के बिना ज्ञान का ही कोई अर्थ नहीं। विज्ञान भी ज्ञान का ही प्रकार है।

पर कार्य-कारण का पसारा कहां तक है, यह प्रश्न फिर भी जाग सकता है। प्रश्न को यों रख सकते हैं – चेतना के स्वातंत्र्य का आरंभ कहां? चेतना को हम भीतर रखते हैं।सब कुछ जो भीतर है, या भीतर जान पड़ता है, वह चेतन भी जान पड़ता है। पर उसे स्वतन्त्र तो नहीं कह सकते, न उचित रूप से आत्मचेतन कह सकते हैं। स्वप्न कितना स्वतन्त्र है? इच्छा, चिन्ता, भय, रति, ये कितने स्वतन्त्र हैं? इन्हें हम चित्त-गत कह सकते हैं - पर चित्त की सीमा कहां तक है? इसका आँकना सरल नहीं। चित्त और इन्द्रियों के बीच अंतर जान पड़ता है। पर क्या पदार्थ-भेद या कोटि-भेद जैसा कुछ अंतर है? वह तो नहीं जान पड़ता। शरीर की भी चित्त से भिन्न अपनी सत्ता जान पड़ती है - पर शरीर चित्त-गत भी है। नहीं तो हम देख आये हैं कि इन्द्रियों का चित्त से कोई अंतरंग ज्ञान-संबंध बनता नहीं दिखता। न शरीर के प्रति आत्मबोध ही बनता दिखता है।

सच तो यह है कि शरीर-चित्त-आत्मचेतना, आत्मचेतना का स्वातंत्र्य और औचित्य-बोध, इनका बड़ा विचित्र, बड़ा गड्डमड्ड–सा परस्पर-भाव बनता दिखता है, जहां स्वातंत्र्य परतन्त्रता के ही भीतर, उसके सहोदर के रूप में उभरता है। विचार की आत्मचेतना में स्वातंत्र्य सबसे अधिक स्फुट-स्वच्छल भाव से उपस्थित जान पड़ता है। विचार जैसे अपने आप को ही देखता, परखता, बनाता चलता है। स्वातंत्र्य-पारतंत्र्य वहां मानो हिलमिल कर रहते हैं, दोनों में जैसे कोई अंदर की गांठ हो। इस परस्पर-भाव में कार्य-कारण की बात करना असंगत होगा। पारतंत्र्य यहां विचार के अपने नियमों का, अपनी अंतरंग संगति का है, अपने प्रमाण-व्यापार का है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिसे पारतंत्र्य कहना ही असंगत लगता है। पर अन्यत्र, भाव में, कर्म में, इनमें हम विवेक के सारथि होने की बात कर सकते हैं – यहां विवेक और चित्त का संबंध कार्य-कारण जैसा बनता लगता है। पर साथ ही यह भी है कि भाव और कर्म में भी इनकी अपनी प्रज्ञा, अपना विमर्श, अपना प्रमाण-व्यापार होता है, जिसके बिना भाव या कर्म की *साधना* का कोई अर्थ नहीं बनता। कर्म की साधना में इच्छा का ही निरहं, *निष्काम* - या निरिच्छ - हो जाना, इसके तारतम्य का कुछ अनुभव हम साधारण तौर पर भी करते ही चलते हैं। अध्यात्म साधना में चित्त के अपने भीतर ही स्वोत्तरण के सोपान की बात की जाती है, जहां साधना में एक विवेक-वीर्य, एक सारथि-प्रदत्त सी प्रेरणा के साथ एक अंतर्निहित स्वतो-प्रेरणा का भी बोध रहता है। इस व्यापार में विवेक कारण के रूप में भी उभरता है - पर साथ ही चित्त की अपनी स्वगत उभार-कामना भी आगे आती है।

तो प्रतीत यही होता है कि बाहर-भीतर का भेद ही अभिप्राय भेद से भिन्न होता है। अन्ततोगत्वा यह सांख्य के पुरुष-प्रकृति द्वैत पर जा कर ठहर सकता है : आत्म और विषय। जहाँ विषय अत्यन्त अत्म-भिन्न के रूप में उभारा जाता है। इसकी बात हम कर आये हैं। पर इस रास्ते चलते हुए, भेद को ही केन्द्र में रखा जाये तो स्वातंत्र्य और कार्य-कारण के बीच सूत्र नहीं बनेगा, जो कि कर्म में उभरता है।सांख्य भेद की दृष्टि ही पालता है, और फिर दोनों में सम्बन्ध की समस्या उठती है। हमें यहां अभेद-दृष्टि चाहिये - विचार उसी ओर ले जा रहा है। अभेद की हमारे यहां कई दृष्टियां हैं – जो वेदान्त में समृद्धि पाती हैं। पर वहां विचार की मुद्रा भेद को ही असत् की ओर ले जाने के रास्ते निकालती है। भेद रखते हुए विशुद्ध अभेद नहीं बनता। अभेद – दृष्टि जगत् को किसी रूप में उपाधि कहने की प्रेरणा पालती है, इस अभिप्राय के अलग रास्ते निकाले गये हैं - जगत् माया है, विवर्त है...। कोई भी विशुद्ध अभेदवाद ऐसा करने को बाध्य है। कुछ भौतिक विज्ञाननिष्ठ विचारक जड़ को अद्वय तत्त्व मानते हुए चेतना को विवर्त कहते हैं। अभेदवादी चिन्तन की यह स्वभाव-गति भी जान पड़ती है, चाहे इन मार्गों में कितना ही परस्पर-विरोध क्यों न हो। ऐसे आत्यन्तिक दृष्टि-भेद विचार की नींव में ही उभरते हैं - क्योंकि विचार व्यावृत्ति पर टिका है, जो चरम पर पहुँचे तो एक को अनेक से विविक्त करने की ओर झुकती है। पर ये आत्यन्तिक भेद चिन्तन की गति के छोर हैं, चिन्तन को बांध नहीं देते। व्यावृत्तियों को ले कर भी चिन्तन अपनी सृजन-साधना या प्रतिभा-वैभव से भेद और अभेद के परस्पर-भाव भी उजागर करता चलता है। हमारे अनुभव के वैविध्य-लोक से भी चिन्तन का गहरा संबंध है। चिन्तन में आत्यन्तिक दृष्टियां उभरती हैं, पर इन दृष्टियों को किसी निर्धारित वाद का ठप्पा लगा कर गठरियों में नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बाँध दिया जा सकता। ऐसा करना चिन्तन से ही किनारा करना, उसकी अवहेलना करना होता है। चिन्तन का सम्बन्ध अगर अनुभव-वैविध्य के परस्पर-विद्ध, परस्पर-अनुस्यूत मर्म से है, हमारी आत्मचेतना के गुत्थिल समग्र से है - तो विचार आत्मचेतना के इस समूचे बहुमुखी वैविध्य को भी अपनी तरह से हमारी पकड़ के लिये उजागर कर सकता है।

एक दृष्टि से आत्मचेतना चिन्तन ही है। आत्मचेतना अर्थ-लोक बनाती है और अर्थ-लोक मात्र में एक विवेक, एक प्रज्ञा, एक प्रतिभा होती है, जो चिन्तन-धर्मी होती है। चिन्तन-धर्मी इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि आत्मचेतना का औचित्य-बोध ही विमर्शमय होता है - विवेक करता है, कुछ लेता है, कुछ छोड़ता है। इसके बिना अर्थ-लोक का ही कोई अर्थ नहीं बनता। चिन्तन को हम आम तौर पर भाषा की अभिव्यक्ति मानते हैं, जब कि हमारे अर्थ-लोक भाषा से भी बनते हैं, भाषा के बाहर भी बनते हैं। व्यवहार–लोक को ही लीजिये : वहाँ भाषा भी है, पर भाषा *ही* नहीं है। व्यवहार के भिन्न क्षेत्रों में भाषा का एक सा स्थान नहीं होता। कर्म को व्यावृत्त कर हम उसके अपने मर्म पर उँगली रखना चाहें तो कर्म को व्यवहार-लोक की रीढ़ कह सकते हैं और यह न भूलिये कि कर्मेन्द्रिय के बिना हमारा व्यवहार-लोक नहीं बनता; कर्मेन्द्रिय को हम व्यवहार-लोक का द्वार कह सकते हैं— और इस अर्थ में उसका एक व्यावर्तक भी। कर्मेन्द्रिय की आत्मचेतन प्रवृत्तियों में एक अपनी समझ और पकड़ होती है, एक जागरूक पकड़, जो भाषा के परे होती है। इसकी एक अपनी अर्थ की एषणा भी होती है, जो नृत्त में स्पष्ट है। पर नृत्त से बाहर साधारण प्रयोजनमय कर्म में भी कर्मेन्द्रिय के काम में एक अपनी आँख होती है जिसे भाषा में नहीं ढाला जा सकता। संकल्प की गतियों की *बूझ* भी भाषा के दायरे में नहीं समाती। पर संकल्प में हम यह भी देख सकते हैं कि कर्मेन्द्रिय के आधार पर कर्म का लक्षण पूरा नहीं बनता – बाहर बाहर ही बनता है, भीतर नहीं। कर्मेन्द्रिय तो कई कलाओं के भी सृजन का द्वार है। कर्म का भेद आत्म-चेतना में कर्म-वृत्ति के अपने औचित्य का ही भेद हो सकता है। पर हां, कर्म में कर्मेन्द्रिय का निवेश कर्म का एक व्यावर्तक पक्ष तो उजागर करता है – एक इंगित देता है कि कर्म का विवेक चिन्तन के विवेक से भिन्न क्यों होता है? कर्म-चिन्तन, या कर्म की प्रज्ञा कहें, या जिसे परंपरा के शब्दों में धर्मबोध कह सकते हैं, वह भाषा को ही माध्यम नहीं बनाता, कार्य-कारण को भी माध्यम बनाता है। कार्य-कारण के क्षेत्र में धर्ममय उपाय-कौशल चाहता है।

फिर भी यह सच है कि भाषा में किया गया चिन्तन आत्मचेतना में एक विशेष ही नहीं, विलक्षण स्थान रखता है। वह मनुष्य के सभी अर्थ-लोकों पर व्याप्त होता है, उन्हें प्रत्ययों में उजागर कर सकता है, और यों उन्हें एक तरह से और भी आत्मचेतन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बनाता हुआ उनके अपने आत्म-मनन को भी आलोकित कर सकता है; उनकी अपनी प्रतिभा के लिए भी सम्बल जुटा सकता है।

विज्ञानवाद, या पारंपरिक वेदान्त में, अधिकतर अभेद दर्शनों में ही, अर्थ-लोक असत् ठहरते हैं। वे प्रतीत होते *हैं*, पर हैं नहीं। उनका होना उपाधि है - मायामय अस्तित्व है उनका, वास्तव नहीं है। वास्तव नहीं है तो तुच्छ है। निरर्थक। सांख्य के चरम द्वैत में भी अर्थ-लोक होते हुए भी अप्रकाश, अचित् ठहरते हैं। यों यहां भी तुच्छ और निरर्थक। शून्यवाद में तो उनका होना और भी न होने की कोटि में खो जाता है। पर अर्थ-लोकों में जो औचित्य और उन्मेषमयी, सृजनमयी आत्मचेतना व्याप्त होती है वह अपने को मिथ्या नहीं कह सकती। उसका अपने को मिथ्या कहना भी उसकी अर्थ की अभीप्सा में से ही उभरता है। वह अर्थलोकों के ही अवगाहन और सृजन को दृष्टि में रखते हुए तत्त्व-चिन्तन में सत् की तलाश करती है। मैं समझता हूं कि हम ऐसा विचार करना चाहें जो अर्थ-लोकों को समर्थ और सार्थक मानता हो, तो हम सहज ही ऐसे दर्शन की ओर बढ़ेंगे जो आत्मचेतना में चित् और सत् का युगल प्रकाश देखे - दोनों के बीच अभेदवादी हो। ऐसे विचार की एक समर्थ अभिव्यक्ति शल्य जी के दर्शन में मिलती है। मेरे लिये यहां उनके विचार का महत्त्व यह है कि मैं जिसे बाहर-भीतर कह रहा हूं, इनमें हम वहां सहज-संगत पर युक्ति-गंभीर एकात्म बनता देख पाते हैं। अपने अनुभव में हम पाते हैं कि हमारा भीतर जैसे बाहर से एक हो कर अर्थ के घर बनाता है। कहना न होगा कि 'घर' शब्द का प्रयोग यहां उत्प्रेक्षा या रूपक की तरह कर रहा हूं,परस्पर कोटि-भिन्न तत्त्वों के बीच बनते एकात्म भाव को पकड़ने के लिये कर रहा हूं। रूपक या लक्षणा की भाषा में भिन्न कोटियों का मेलन संवेदना के लिये निर्विचार, जैसे अतर्क्य भाव से ही, बन जाता है। पर चिन्तन-युक्तियों में रहता हुआ, कोटियों को व्यावृत्त करता हुआ भी, इसे अपनी तरह से कैसे उभारे, यह गुत्थी सताती है। शल्य जी के चिन्तन में समाधान का एक समीचीन तत्त्व-मार्ग मिलता है। तभी पिछले लेख में मैंने शल्य जी की *प्रत्यय* की धारणा का सहारा लिया था।

आजकल चलन है कि हम प्रत्यय शब्द को विकल्प का पर्याय गिनते हैं, और विकल्प को भाषा ही से जोड़ते हैं। शल्य जी ऐसा नहीं करते। उनके दर्शन में यहाँ बहुत उतरने की आवश्यकता नहीं, पर उनके चिन्तन में प्रत्यय की धारणा अर्थ-लोक मात्र पर व्याप्त होती है - भाव, कर्म के ऐसे लोक, ऐसी सृष्टियां जिन्हें भाषा में नहीं घेरा जा सकता।

शल्य जी के लिए सत् चित् से अभिन्न ही नहीं, चित् स्वरूपत: ही सृजन व्यापार है; इसलिये सत् को अर्थ भी कह सकते हैं। चित् सत् में बहुधा व्यापृत होता है;

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एकोऽहम् बहु स्याम् उसके उन्मेष का या सृजनोन्मुख भाव का बीज है। चित् के स्वयंभू, स्वभाव-निष्ठ अर्थ-सृजन को शल्य जी प्रत्यय-व्यापार कहते हैं। प्रत्यय यहां चित् की सत् में अभिव्यक्ति का नाम है- चित् का सत् में विकीरण। हमारी आत्म-चेतना इसी व्यापार का एक ऐसा अत्मफलन है जहां इस व्यापार का आत्म-अनुभव भी संभव है। और आत्मचेतना विचार में ही नहीं, भाव और कर्म में भी व्यापृत होती है; जिन्हें मैं यहां अर्थ-लोक कह रहा हूं ऐसे भिन्न सृजन और अवगाहन के क्षेत्रों में प्रवृत्त होती है। शल्य जी आत्मचेतना मे चित्-सत्-मय तत्त्व का *प्रतीक* रूप देखते हैं। उसकी सृष्टियां भी प्रत्यय-सृष्टियां हैं। अब प्रत्यय की धारणा को यों आँका जाये तो उसे भाषा में सीमित नहीं कहा जा सकता। भाषा बस उसे विचार के लिये *प्रस्तुत* भर करती है। धारणा का अर्थ स्पष्ट ही व्यापक है - अपने विस्तार में उसे भी ले लेता है जिसे मैं घर शब्द की व्यंजना से साध रहा हूं। (व्यंजना, युक्ति की तरह विचार का व्यावर्तक धर्म न भी हो, पर व्यंजना के बिना भी विचार संभव नहीं है - शल्य जी के *प्रतीक* शब्द का भी अर्थ व्यंजनामय संकेत से ही उभरता है)। पर यह भी है कि व्यंजना में अनभिप्रेत विशेष अर्थों की छाया बनी रहती है, बात धुँधली ही रहती है, जब कि विचार के प्रत्ययों में अभिप्राय का सामान्य अपने को देखता परखता हुआ सामने आता है।

प्रत्यय को ऐसी व्यापक पकड़ दें तो चिन्तन के भाषामय *विकल्प* ही नहीं, बाहर-बनते घट भी प्रत्यय के रूप में उभरते हैं - घट में प्रयोजनमय अर्थ-साधना की ही एक अभिव्यक्ति है। हमारे संदर्भ में बड़ी बात यह है कि बाहर-भीतर का भेद सार्थक विचार के लिये विषम व्यवधान नहीं रह कर एक परस्पर-भाव में गुँथ जाता है। इसके लिये शल्य जी के समग्र चिन्तन की स्वीकृति आवश्यक नहीं - आत्म-चेतना को सृजनोन्मुख मानना ही बहुत है, और उसके बहुधा-विकीर्ण अर्थ-लोकों को सत्य, सार्थक।

मैंने पिछले लेख में अर्थ-लोकों की नहीं, उपाय-लोकों की बात की थी। पर *उपाय* की बात अर्थ के बिना नहीं हो सकती है - उपाय अर्थ का साधन होता है; अंध कार्य-कारण की क्रिया नहीं है उपाय। हमारा व्यवहार-लोक स्पष्ट ही एक विराट् उपाय-लोक भी है। दूसरे भी कई उपाय-लोक हैं जो व्यवहार में गुँथे हैं; जो स्वतन्त्र भी हैं तो व्यवहार में पलते हैं। भाषा का लोक (या लोक-समूह कहिये) ऐसा ही लोक है। भाषा अपने माध्यम से साधारण व्यवहार से लेकर साहित्य और विचार तक कई लोक बनाती है। यहाँ आत्म-चेतना के बाहर सें भीतर अपने स्वातंत्र्य की ओर मुड़ते स्तर भी देखे जा सकते हैं। विचार में इनकी परिणति दिखती है : विचार बाहर से सर्वथा मुक्त होकर अपने आप को ही अपनी विमर्श-चेतना का विषय बना सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर भाषा के साधारण प्रयोग को, उसके होने मात्र को, ही लीजिये। हम अपने को आत्मचेतन कह सकते हैं तो इसीलिये कि भाषा के प्रयोक्ता हैं। भाषा हमारी रहनी की आदिम धरती पर ही हमें अनायास उपलब्ध होती है। भाषा एक सहज बहुमुखी अर्थ-लोक का अंतरिक्ष बुन देती है। आत्म-चेतना को आधार देती है और माध्यम भी देती है; या *उपाय* कहिये। हम भाषा में ही जनमते हैं। उसका सार्थक प्रयोग हमारी घुट्टी में ही समाया होता है। बिना सीखे हम भाषा सीखते हैं; इसे मनुष्य का मनुष्य-भाव-प्रदत्त संस्कार भी कहा जा सकता है। यही हमें मनुष्य भी बनाती है। भाषा मानव-संस्कृति के बाहर नहीं पायी जाती। पर मनुष्य की तो मानो यह प्रकृति ही है। तभी मैंने भाषा को सहज *संस्कार* भी कहा। संस्कृति के कई संस्कार हम में सहज ही होते हैं, उनमें भाषा प्रधान है। या यों कह सकते हैं कि ये उस चेतना को – आत्मचेतना को – ऊह्य या पूर्वगृहीत रखते हैं जो भाषा में प्रकाशित होती है। पर प्रकृति कहिये या संस्कार कहिये, भाषा एक विचित्र ही तत्त्व है हम में - या शक्ति कहना चाहिये, क्योंकि यह चेतना का एक स्पंद या स्फुरण है जो *उपाय* का समर्थ रूप लेता है। पर यह उपाय सृजन का है। विचित्र संस्कार है। हमें लगता है ये संस्कार हमें बाँधते हैं – नियन्त्रण में लाते हैं। संस्कृति मुक्त प्रवृत्ति को नियमित करती है। एक नियन्त्रणमयी व्यवस्था भी देती है। चींटियों में व्यवस्था को प्राकृत कहें तो अपनी व्यवस्था को हम संस्कृत कह सकते हैं। व्यवस्था को बनाये रखने की चेतन चेष्टा भी वहां है। इसी चेष्टा में संस्कृति हमें *नियमित* करती है। और भाषा को ही लीजिये - वह भी नियमों में ही पलती है। नियम बनाने का माध्यम भी बनती है।

उपाय को हम अकसर नियम के रूप में देखते हैं और नियम को नियन्त्रण के रूप में। पर भाषा को इस तरह नहीं तोला जा सकता। भाषा स्वभाव से ही स्वातंत्र्य पालती है। बाँधती नहीं खोलती है। जो बात विचार में स्पष्ट है। या कविता में। आठ पहर की बात-चीत में भी स्पष्ट है।

भाषा को उपाय रूप में विधि कह सकते हैं। एक अपूर्व विधि। किस अर्थ में ऐसा कह सकते हैं, आगे चर्चा करता हूं।

कुछ लोग कहते हैं कि भाषा ही आत्मचेतना है। पर भाषा का अलग अपना स्वभाव भी उभरता है। भाषा *को ही* आत्मचेतना कहें तो आत्मचेतना भाषा-बद्ध होगी, भाषा *पर* कुछ नहीं कह सकेगी, भाषा को विचार में विषय नहीं बना सकेगी, उसका यथेष्ट प्रयोग नहीं कर सकेगी। भाषा को ही आत्मचेतना कहने में तो आत्मचेतना के स्वातंत्र्य का निषेध ही जान पड़ता है। आत्मचेतना के बोध का भाषा से स्वातंत्र्य भाषा के प्रयोग में ही उभरता दिखता है। जब मैं अपने ही कहे या लिखे को परखता हूँ कि बात ठीक कही/लिखी गई या नहीं, तो बात भाषा से ऊपर मेरी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मचेतना में तैरती है; मैं दूसरे शब्द टटोलता हूँ, उन्हें तोलता हूँ कि उनसे क्या बात ठीक कही जा रही है या नहीं? इस पूरे व्यापार में भाषा ही सर्वस्व नहीं होती, उससे ऊपर भी औचित्य बोध में जागती एक द्रष्ट चेतना होती है जो स्वतन्त्र अभिप्राय, स्वतन्त्र परख रखती है। एक भाषा से दूसरी भाषा के अनुवाद करने में भी यह तथ्य सामने आ जाता है। अनुवादक दोनों भाषाओं से बाहर खड़ा देखता है कि बात कही गई या नहीं, भाव उभरा या नहीं ? हम यह भी देखते हैं कि उसी बात को या भाव को और तरह से भी कहा जा सकता है, बल्कि न कहा जा सके तो हम यही नहीं समझेंगे कि समझ बनी। फिर कला भी आत्मचेतना की अभिव्यक्ति होती है, कला के भाषा-भिन्न माध्यम भी होते हैं। और सबसे बढ़ कर कर्म को लीजिये। कर्म को भाषा-भीतर नहीं समेट दिया जा सकता। कला पर विचार कला नहीं है। न कर्म पर विचार कर्म है।

पर हाँ, यह कह सकते हैं कि भाषा के बिना भी जिस आत्मचेतना की हम बात कर रहे हैं और जिसे भाषा के प्रयोग में भाषा से ऊर्ध्व रख रहे हैं, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। भाषा और भाषा का प्रयोक्ता – प्रयोक्तृ चेतना – मानो परस्पर-बद्ध ठहरते हैं। दोनों में एक गहरा अविनाभाव जैसा है। लगता है आत्मचेतना का स्वातंत्र्य भाषा में रूप लेता है। उसके अरूप का संकेत भी भाषा ही के प्रयोग में मिलता है। भाषा का अपना एक रूप, अपना योजना-विन्यास होता है जिसे हम आत्मचेतना से अलग रख कर भी देख सकते हैं। उपाय रूप में देख सकते हैं (वह उपाय न हो तो कुछ भी नहीं है)। उसके प्रयोग के नियम उभार सकते हैं। पर आत्मचेतना के बिना भाषा निरर्थक भी ठहरती है। दोनों में एक स्व-स्थिति रहते हुए भी अभेद संबंध है, पर ऐसा कि भाषा अपनी स्वतन्त्र विन्यास-व्यवस्था रखते हुए भी अपने अर्थ के लिये आत्मचेतना पर निर्भर है बिना अर्थ के भाषा बनती ही नहीं। भाषा को नियम में ढाला जा सकता है, पर ये नियम आत्मचेतना ही पकड़ती है। आत्मचेतना के बिना कार्य-कारण के नियमों की तरह भाषा के नियमों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भाषा आत्मचेतना में इतनी घुलीमिली है कि भाषा को प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर बनी कार्य-कारण श्रृंखला में भी ढालने की बात ही कोटि-व्यामिश्र की बात ठहरती है। तभी आत्मचेतना की तरह भाषा का भी इतिहास नहीं। अनहोनी सी उतरती है भाषा हममें, आत्मचेतना ही की तरह, और लगता है आत्मचेतना के साथ ही उतरती है। वह हम में उतरती है तो जैसे आत्मचेतना को उतारती हुई उतरती है। मानव शिशु को भाषा का संस्कार न मिले तो वह आत्मचेतन भी नहीं होगा। इस अर्थ में भाषा सीखी भी जाती है, पर जैसे बिना सिखाये (तभी उसे संस्कार कह रहा हूं)। हम कह सकते हैं कि भाषा हममें आत्मचेतना की *विधि*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। उसे *अपूर्व* विधि भी कह सकते हैं, इसलिये क्योंकि प्राकृत कार्य-कारण-परम्परा-प्रवाह में उसकी परिणति नहीं उभरती। वह जैसे हठात् सी आकाश-वाणी है। मीमांसकों की शब्दावली को और आहृत करते हुए, उसे अपौरुषेय विधि भी कहें तो अचम्भा नहीं होना चाहिये : क्योंकि वह पुरुष को पुरुष बनाती है पर मानो किसी अदृष्ट धरती से संकेत समोती है।

प्रकट है मैं यहां अपूर्व-विधि की मीमांसा-लब्ध धारणा को विस्तार देना चाह रहा हूं। मीमांसा को इसलिए भी ले रहा हूँ कि चर्चा का विषय कर्म है, और मीमांसा में भी बात धर्म से जुड़ती है, जिसे हमारे यहां कर्म के औचित्य-बोध का व्यावर्तक कहा गया है - मीमांसा में अपूर्व विधि का सम्बन्ध *किं मया कर्त्तव्यम्* इस प्रश्न से है, और यों धर्म से।

मीमांसा में अपूर्व का अर्थ यज्ञ-जन्य गुण-विशेष है जिसका फल स्वर्ग होता है। पर अपूर्व *विधि* की बात करें तो *अपूर्व* का अर्थ एक व्यापक ध्वनि भी ले सकता है। मीमांसा में अपूर्व विधि को अपूर्व इसलिए कहा गया है कि विधि यहाँ अप्राप्त की प्रापक है - *अप्राप्त-प्रापकत्व* उसका लक्षण है। अप्राप्त-प्रापकत्व का अर्थ लक्षणीय है। पहली (आदिम) प्रवृत्ति को उदय करने वाले बोध का उदयिता होना, यह अप्राप्त प्रापकत्व है। अपूर्व की धारणा को इस प्रसंग में एक और भी गहरा अर्थ दिया गया है। अपूर्व एक बोध है - ऐसा बोध जो आप अपना प्रमाण होता है, किसी और प्रमाण से जिसका उदय नहीं होता (*'प्रमाणान्तर-जन्य-प्रतीति-अविषय-विषयक-प्रतीति-जनकत्वम्,'* यह भी अपूर्व का लक्षण किया गया है)। मीमांसा के लिए यज्ञ-विधि ऐसी ही अपूर्व विधि है – स्वयं-प्रतिष्ठ, स्वयंभू विधि हैं; तभी अपौरुषेय है, अदृष्ट है। यज्ञ क्या, कैसे किया जाये, इसका ज्ञान, *प्रमा* ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के हमारे दृष्ट साधारण अनुभव-सिद्ध लौकिक प्रमाणों के बाहर है। पर अपूर्व विधि की धारणा को यज्ञ तक सीमित रखने का कोई कारण नहीं है। धारणा में विस्तार की संभावना स्पष्ट है। भाषा पर भी सार्थक ठहरती है।

अपूर्व-विधि *अपूर्व* इसलिए है कि अपने होने में और प्रमाण में आप अपनी धरती बनाती है। प्रकट ही भाषा भाषा-पूर्व ही होती है और प्रमाण का जहां तक संबंध है, हमारा प्रमाण-व्यापार भाषा को पूर्व रखता है; पूर्वगृहीत करता है। *विधि* इसलिए है कि कुछ करने का मार्ग खोलती है जो पहले नहीं था और मार्ग इस तरह से खोलती है कि मार्ग पर चलने की प्रेरणा और चलने का उपाय साथ लिए आती है। गन्तव्य के क्षितिज (या बहुवचन में कई क्षितिज कहिये) उन का संकेत भी साथ लाती है।

विधि को हम नियम में ढाल लेते हैं, बांध देते हैं, रूढ़ कर देते हैं - नहीं तो उसकी परंपरा नहीं बना पाते। मीमांसा ही की अपूर्व-विधि को लीजिये। वह यज्ञ के साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बँधी हुई है और यज्ञ की करनी नियम के साथ बँधी है : मीमांसा के लिये तो यज्ञ-कर्म का हर अंग-प्रत्यंग नियत है, वहाँ विधि नियम का ही पर्याय है। इसलिये उसका फल भी नियमेन विहित है : स्वर्ग, जो अन्यथा नहीं पाया जा सकता। यों मीमांसा के नियम कार्य-कारण के ही पर्याय बन जाते हैं। यज्ञ मानो एक यन्त्र है। उसके अंग-प्रत्यंग ठीक बने-कसे हों तो यन्त्र अपना काम करेगा। हां, इतना है कि यह यन्त्र किसी *दृष्ट* कार्य-कारण-श्रृंखला में नहीं बंधता है, दूसरे यन्त्रों की तरह प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जाना-समझा जा सकता; इसकी विधि का स्रोत अदृष्ट है (अपौरुषेय श्रुति - वेदवाक्य), और इसका काम, यह जो साधता है, इसका फल, वह भी अदृष्ट है - स्वर्ग।

यों भी कह सकते हैं कि स्वर्ग है ही वह जो यज्ञ के नियत-विहित विधान से कर दिये जाने पर, इस कर्म का कर्म-नियत परिणाम होता है (या यन्त्र-नियत कहिये)।क्योंकि बिना परिणाम के ऐसे कर्म की कल्पना निरर्थक है। हां, परिणाम यहां अदृष्ट होता है। पर यह अदृष्ट दृष्ट के ही आदर्श पर कल्पित अदृष्ट है। कर्म के औचित्य की इस सारी कल्पना में ही एक हेठापन है - किसी भी भूमा का नितान्त अभाव। '*किं मया कर्त्तव्यम्*' का उत्तर अगर यह है कि मुझे यज्ञ का सौ नियमों में बँधा *अनुष्ठान* करना चाहिये, तो यह कुण्ठित सा अर्थ धर्म का, कर्म के औचित्य का, लक्षण नहीं हो सकता। कर्म की समझ का यह रास्ता नहीं हो सकता।

पर अपूर्व की धारणा में जो गहराई है उस पर विचार कीजिये। अपूर्व में अदृष्ट के बोध का एक क्षितिज, एक आकाश उभरता है, जिसे मीमांसा रूँध देती है। अदृष्ट के गहरे, संभावनामय संकेत को दृष्ट की निरी यन्त्रमय उपादेयता में ढाल कर तुच्छ कर देना चाहती है मीमांसा। अनुष्ठान के रूप में भी यज्ञ के आदर्श में एक अर्थ-गौरव है जो वेद के ब्राह्मण-ग्रंथों में झलकता रहता है। यज्ञ वहां सृष्टि का प्रतीक भी है, अदृष्ट सत्य के वरण का पंथ भी। ब्राह्मणों के देव-ज्योति-समर्पित प्रतीक-धर्मी यज्ञ में और मीमांसा के यन्त्र-धर्मी सौ नियमों में कसे क्रिया-सार यज्ञ के बीच एक तल-ग्राही अन्तर ही नहीं, विरोध है, जिसकी ओर मीमांसा आँख मूँद लेती है। देवता की अदृष्ट सत्ता को ही मीमांसा यज्ञ की क्रिया में समेट कर मिटा सा देती है।

अपूर्व एक विराट् है। *किं मया कर्त्तव्यम्* कर्म के इस आधारभूत प्रश्न के उत्तर की प्रेरणा का अगर किसी अपूर्व से संबंध हो तो वह प्रेरणा आत्म-चेतना में संकल्प के विराट् की संभावना के साथ उतरनी चाहिये। नहीं तो अपूर्व की बात ही क्या? अपूर्व किसी विधि का रूप ले तो वहां कर्म की दिशाओं को उदार, उदात्त विस्तार खुलता लगना चाहिये। प्रश्न की कौंध में जो द्युति है वह अदृष्ट का द्युलोक चाहती है, यन्त्र की सी रूढ़ि नहीं। मीमांसा की मनीषा सारे क्षितिज को एक संवृत गलियारे में घेर कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जकड़ देना चाहती है। अचंभा नहीं कि यज्ञ क्या है, किया कैसे जाये, ये प्रश्न मीमांसा के एकाधिकार की बात कभी नहीं हैं। यज्ञ की विधि में भाषा का भाव होना चाहिये – सत्य की संभावना लिये हुए। अपूर्व विधि जिस यज्ञ की प्रेरणा जगाती है वह यज्ञ आत्मचेतना में कर्म की ही अदृष्ट भूमा का संकेत हो सकता है, जैसा कि गीता की व्यापक धारणा में कृष्ण ने उभारा ही है। जीवन को अदृष्ट के समर्पित कर देना, यही यज्ञ है। ब्राह्मणों, उपनिषदों में भी यह संकेत उजागर है। कृष्ण की यज्ञ-धारणा को एक ऐसी कर्म-प्रज्ञा का बीज कह सकते हैं जहां विधि की अपूर्वता को अनुपल जगाये रखने का संकल्प-संधान बना रहता है, जहाँ कर्म प्रवृत्ति, दृष्ट उपादेयता के परे अपना सत्य ढूंढती रहती है। ऐसे यज्ञ का कोई नियत पंथ नहीं होता। प्रश्न बना ही रहता है कि जीवन को यज्ञ कैसे बनाया जाये? मार्ग के सत्य का प्रमाण क्या हो? लगता है, कुछ विशिष्ट लोगों के जीवन को ही यहाँ प्रमाण के रूप में आँका जा सकता है, जिनकी प्रवृत्ति में ऐसी दिव्य प्रेरणा और उस प्रेरणा के प्रति निष्ठा और समर्पण देखा जा सके, जिसे यज्ञ-तुल्य कहना उचित हो। कृष्ण को ही लें, या राम को, या गाँधी को। इनमें हम दोष देख सकते हैं, इनको असफल भी कह सकते हैं। पर बात सफल-असफल, या पर्याप्त-अपर्याप्त होने की नहीं है - सफलता या दोषहीनता यज्ञ-तुल्य आदर्श नहीं हो सकते। बात यहां संधान के प्रण और प्रवृत्ति की है। सिद्ध, सम्पूर्ण, निरवद्य, अंतिम जैसा यहाँ कुछ हो ही नहीं सकता। हम यहां ऐसी विधि ढूंढें जो भाषा की तरह नियमों में भी ढाली जा सकती हो। तो धर्मशास्त्रों में जिन्हें साधारण धर्म कहा गया है उनकी बात कर सकते हैं - सत्य, अस्तेय...। महाभारत में कृष्ण ने इन साधारण धर्मों को और भी सामान्य में ढालते हुए दो धर्मों की बात की है – अहिंसा और प्रभव। धर्म-संकट में इनकी चर्चा कर आया हूं। आगे की चर्चा में भी इन पर आऊंगा।

आत्मचेतना में चेतना जिजीविषा के संवरण से आँख खोलती है। उसका अपना स्वातंत्र्य जागता है। भेद और अभेद के प्रति सचेतन होती है – अपने को देखते हुए, अपने बाहर देखते हुए, अपने को पर के रूप में देख सकती है। भेद और अभेद-बोध का आविर्भाव *सामान्य* और *विशेष* के परस्पर-निष्ठ, युगनद्ध युगल-बोध में उदित होता है। संबंध-बोध का उदय होता है। तभी संकेत संभव होता है, जो भाषा का आधार है। संवरण-मुक्ति का उन्मेष प्रश्न में चकित हो उठता है; प्रश्न-चेतना, संशय, विवेक, अभाव, निषेध, विवेक-वैविध्य का उदय होता है। इनका संबंध भेद–चेतना से बैठता लगता है, पर यही चेतना प्रमाण-व्यापार से भी पिनद्ध है जो अर्थ-संधान पालती है, जिसका संबंध अभेद से बैठता है। प्रमाण-बोध औचित्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बोध है जो जिजीविषा से भिन्न रूप लेता है। क्रिया कर्म का रूप लेती है। धर्म-बोध का उदय होता है। किं कर्त्तव्यम् का प्रश्न औचित्य-संधान की ओर ले जाता है।

कहने में यहां जो क्रम है, वह कहने में ही है, अभिप्राय यह नहीं कि होने में ऐसा कुछ हुआ था। न अभिप्राय यह है कि ऐसा होना कोई घटना थी - नई, अपूर्व घटना। क्योंकि ऐसा कहने के पीछे यह धारणा है कि जगत् अपने आप में अपनी गति से चल रहा था, जहां आत्मचेतना उतरी। जगत्, विशेष कर जीव-जगत्, आत्मचेतना से पूर्व था। तो प्रश्न होगा आत्मचेतना से इस पूर्व का संबंध क्या? पर पूर्व का प्रश्न जगत् के बारे में भी किया जा सकता है कि जगत् का, या होने ही का, पूर्व क्या? आज इस प्रश्न का चलन नहीं तो यह विगत नहीं हो जाता। मूल प्रश्न विकासवाद या जगत् के इतिहास का नहीं है। मूल प्रश्न कार्य-कारण और स्वातंत्र्य के संबंध का है। इसका कोई घटना-रूप उत्तर नहीं बनता। कार्य-कारण से चलें तो स्वातंत्र्य अपूर्व, अनहोना लगता है। पर स्वातंत्र्य से चलें तो कार्य-कारण भी वैसी ही अनहोना लगता है। आज कार्य-कारण से चलने का चलन है, और विचार की यह प्रथा हममें अनायास है। मुझमें भी।

पर कहीं से चलें, मनुष्य की कार्य-कारण और स्वातंत्र्य के बीच झूलती त्रिशंकु सी अनहोनी का अचंभा बना रहता है। पुराण हों या विकासवाद, दोनों में बना रहता है। दोनों में मनुष्य की चेतना - प्रश्नमयी, औचित्यमयी आत्मचेतना अपूर्व ही ठहरती है।

. . . क्रमशः

37-38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड,
जयपुर-302006

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अद्वैत वेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्याएँ

दयाकृष्ण

शंकर के बाद की कहानी अजीब है। अद्वैत को ही लें तो उसका इतिहास अस्पष्ट ही नहीं बल्कि बहुत कुछ उलझा हुआ भी प्रतीत होता है। एक ओर शंकर के शिष्य पद्मपाद और सुरेश्वर थे, जिन्होंने स्वयं शंकर के विचार को अलग-अलग तरह से व्याख्यायित करने की चेष्टा की और दूसरी ओर मण्डन मिश्र थे, जिनकी कथा सर्वविदित है कि पहले वे मीमांसक थे और बाद में शास्त्रार्थ में शंकर से हारकर उन्होंने संन्यास ले लिया और वे अद्वैत वेदान्त के अनुयायी हो गए। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मण्डन मिश्र और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति हैं, संन्यास लेने के बाद मंडन मिश्र का नाम ही 'सुरेश्वर' हो गया था। जो भी हो, समस्या 'नाम' की नहीं है बल्कि इस बात की है कि अगर वे **ब्रह्मसिद्धि** के रचयिता हैं तो अद्वैत चिन्तन की परम्परा में उन्हें किस प्रकार समझा जाय? अगर वे वही मण्डन मिश्र हैं जो शंकर से मिलने से पहले प्रखर मीमांसक थे और जिन्होंने **विधि-विवेक** और **भाव-विवेक** की रचना की, तो ऐसा मानना पड़ेगा कि शंकर से शास्त्रार्थ होने के बाद उन्होंने मीमांसा के बारे में अपना मत बदल दिया था, क्योंकि **ब्रह्मसिद्धि** में उन्होंने मीमांसा की दृष्टि को अस्वीकार किया। दूसरी ओर, अगर यह मान लें कि शंकराचार्य से मिलने के बाद उनका अद्वैत में विश्वास हो गया था तो फिर आश्चर्य की बात यह है कि **ब्रह्मसिद्धि** में अद्वैत मत का जो प्रतिपादन है वह शंकर के 'अद्वैत' से भिन्न है। यही नहीं, अद्वैत की परम्परा में उसको कोई महत्त्व नहीं मिला है, हालांकि चित्सुखाचार्य जैसे विद्वानों ने उस पर अपनी व्याख्या-टीका लिखी है। वे 'शब्द ब्रह्म' को या 'शब्दाद्वैत' को स्वीकार करते दिखाई देते हैं और वे इस प्रकार भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** की परम्परा में प्रतीत होते हैं, जो अद्वैत के आचार्यों को साधारणतः अमान्य है। यही नहीं, अपने ग्रन्थ में वे अद्वैत की उन सब परम्पराओं से परिचित प्रतीत होते हैं जो सुरेश्वर, पद्मपाद और वाचस्पति मिश्र प्रथम के नाम से जुड़ी हैं। बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद, जो इन लोगों के नाम से जुड़े हैं, उनका निरूपण **ब्रह्मसिद्धि** में पाया जाता है। पद्मपाद और सुरेश्वर तो शंकर के शिष्य थे ही परन्तु वाचस्पति मिश्र प्रथम तो उनके बाद में हुए। अगर उनके मत का ज्ञान **ब्रह्मसिद्धि** में पाया जाता है तो इसका अर्थ यही होगा कि वे सभी मत **ब्रह्मसिद्धि** के रचयिता को मालूम थे और अगर ऐसा था तो यह मानना पड़ेगा कि शंकर से पहले भी कोई अद्वैत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की परम्परा थी जिसके सन्दर्भ में ये सभी मत प्रचलित हो चुके थे। एक तरह से यह बात जैनाचार्य समन्तभद्र की उस युक्ति में भी प्रकट होती है जिसके द्वारा उन्होंने अद्वैत का खण्डन करने की चेष्टा की है। **आप्त मीमांसा** में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अद्वैत को 'हेतु' और 'साध्य' में तो भेद मानना ही पड़ेगा, क्योंकि अगर ऐसा भेद नहीं मानते हैं तो फिर अपने मत के लिए न कोई युक्ति दे सकता है, न तर्क।

अद्वैत चिन्तन की परम्परा में 'अध्यास', 'अविद्या' और 'माया' ये मूल प्रत्यय हैं। अध्यास से तो शंकर अपना भाष्य प्रारम्भ ही करते हैं और अविद्या अध्यास का ही दूसरा नाम है। इसका एक अन्य नाम मिथ्या ज्ञान या मिथ्यात्व है जिसका अर्थ शंकर ने इस प्रकार किया है कि किसी वस्तु को उस प्रकार जानना जैसी वह नहीं है मिथ्याज्ञान है। मिथ्यात्व का अर्थ ही यह है कि वस्तु के स्वरूप को न जानते हुए उसको किसी और रूप में देखना और उस देखने को 'सत्य' मानना। अध्यास का अर्थ यही है कि हम किसी वस्तु पर वह आरोपित करते हैं जो उसका अपना स्वरूप नहीं है। कुछ-कुछ अविद्या का भी यही अर्थ है। शंकर ने भाष्य के प्रारम्भ में ही दो बातें कही हैं जिनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। पहली यह कि अध्यास के लिए दोनों वस्तुएँ अनुभूत होनी चाहिएँ। अगर ऐसा नहीं है तो उनमें अध्यास किस प्रकार हो सकता है? अगर हम एक चीज़ को बिल्कुल ही नहीं जानते तो उस पर किसी और चीज़ का आरोप कैसे कर सकते हैं? यह बात उन्होंने इस पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में कही है कि अगर आत्मा पूर्ण रूप से अविषय है तो फिर उसे अन्य विषय के रूप में देखा ही कैसे जा सकता है? वे कहते हैं—

नायमात्मा ह्येकान्तेनाविषयः आत्मप्रत्यय गोचरत्वात्॥—**ब्रह्मसूत्र-भाष्य,** उपोद्घात॥

अर्थात् आत्मा ऐकान्तिक रूप में अविषय नहीं है, क्योंकि वह अहं-प्रत्यय के रूप में जाना भी जाता है।

परन्तु जो इससे भी अधिक आश्चर्य की बात है, जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, वह यह है कि इसके तुरन्त बाद शंकर यह कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अध्यास के लिए यह आवश्यक ही हो कि जिन दो चीज़ों के बीच में अध्यास है वे दोनों विषय रूप में उपस्थित हों। यही नहीं, इसका वे उदाहरण भी देते हैं और समझाते हैं कि अध्यास होने के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता क्यों नहीं है? वे कहते हैं कि आकाश के विषय नहीं होने पर भी हम उस पर तल-मलिनता का आरोप करते हैं। परन्तु शंकर ने इस उदाहरण पर और इस उदाहरण से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया। आख़िर आकाश यदि विषय रूप में उपस्थित नहीं है तो फिर वह किस रूप में उपस्थित है? उसको मानने की या स्वीकार करने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की आवश्यकता क्यों है? 'आकाश' तो दिखाई नहीं देता—हाँ, 'मलिनता' अवश्य दिखाई देती है। पर यह मानने की ज़रूरत क्यों हुई कि यह मलिनता आकाश का गुण है या उस पर आरोपित है?

साधारणत: आकाश को शब्द के आश्रय के रूप में देखा गया है, हालांकि ऐसा शायद न्याय में ही स्पष्टत: स्वीकार किया गया है। परन्तु शंकर के उदाहरण के सन्दर्भ में प्रश्न यह नहीं उठता कि आकाश की मान्यता किस आधार पर हुई या उसको मानने की ज़रूरत क्यों पैदा हुई? बल्कि यह कि यदि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तो क्या वह अनुमान का विषय है या और किसी प्रमाण का? अध्यास के सन्दर्भ में जैसे ही हम अप्रत्यक्ष विषयों को स्वीकार कर लेते हैं तब जो समस्याएँ उठती हैं उन पर भारतीय चिन्तन में अधिक ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि साधारणत: वे उन्हीं विषयों को 'विषय' रूप में स्वीकार करते हैं जो अनुभव के विषय होते हैं और अधिकतर प्रत्यक्षात्मक अनुभव के। वैसे तो जो आन्तर अनुभव या अन्तरिन्द्रिय के विषय हैं उनको भी प्रत्यक्ष के विषयों के रूप में स्वीकार किया गया है, पर वे तत्त्व या वस्तुएँ, जिनकी मान्यता का आधार केवल बौद्धिक आवश्यकता है और जिनके विषय में भी हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, उनके सन्दर्भ में अध्यास की चर्चा नहीं की गयी है। लेकिन यदि मिथ्यात्व है तो शंकर के ज्ञान-विश्लेषण के आधार पर अध्यास होना ज़रूरी है, क्योंकि उनके लिए 'मिथ्यात्व' और 'अध्यास' एक ही बात के दो पहलू हैं, या एक ही बात को कहने के दो भिन्न-भिन्न तरीके हैं।

आकाश के उदाहरण में शंकर कम-से-कम मलिनता को तो प्रत्यक्ष मानते हैं, पर यह भी सोचा जा सकता है कि शुद्ध बौद्धिक आधार पर स्वीकार की हुई वस्तुओं या तत्त्वों में भी वे गुण आरोपित किये जाते हैं जो वास्तव में उनमें नहीं होते! यह बात प्रथम दृष्टि में शायद बहुत ही अजीब लगेगी लेकिन थोड़ा अधिक विचार करने पर ऐसा शायद नहीं लगे। आख़िर अद्वैत के ही सन्दर्भ में बात करें तो 'ईश्वर' किस प्रकार का सत्त्व है? क्या वह अनुभूति का विषय है? और उस पर जो गुण आरोपित किये जाते हैं वे गुण किस प्रकार के हैं? अगर ईश्वर 'विषय-रूप' है तो अद्वैत के सन्दर्भ में तो वह अविद्याजन्य ही माना जायेगा और उसमें जो भी गुण आरोपित होंगे वे भी मिथ्यात्व से ग्रसित होंगे, और अगर वह बौद्धिक चिन्तन की अनिवार्य पूर्वमान्यता है तो भी वह कुछ-कुछ उस आकाश की तरह ही होगा जिस पर मलिनता आरोपित होती है। हालांकि 'ईश्वर' पर जो गुण आरोपित होते हैं वे न प्रत्यक्ष के विषय हैं न अन्तःसंवेद के। फिर उनके विषय में यह कैसे निश्चित हो सकता है कि उनमें कोई ऐसा दोष है कि वे ईश्वर पर आरोपित किये ही नहीं जा सकते? यह बात उन गुणों के बौद्धिक विश्लेषण से प्रकट होगी। देखने में चाहे वे गुण कितने ही 'सत्य'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतीत हों, अधिक ध्यान से देखने पर वे अन्तर्विरोध से ग्रसित प्रतीत होंगे। ईश्वर पर आरोपित कुछ गुण ऐसे ही लगते हैं। जैसे उसको हम 'सर्वज्ञ' भी मानते हैं और सर्वशक्तिमान् भी। 'कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं शक्त:' उसका एक लक्षण दिया जाता है। पर थोड़ा सोचने पर थोड़ी समझ रखने वाले को भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि जो सर्वज्ञ है वह सर्वशक्तिमान् कैसे हो सकता है, क्योंकि उसे तो पहले से ही पता है कि वह क्या करेगा या करने जा रहा है! और अगर ऐसा है तो फिर उसके सर्वशक्तिमान् होने की बात करना किसी ऐसी चीज़ की बात करना है जो अपने-आप में कभी भी चरितार्थ हो ही नहीं सकती। यही बात बहुत से अन्य गुणों के बारे में भी सत्य है।

ईश्वर की बात छोड़ भी दें तो यह बात साधारण सन्दर्भों में बार-बार दिखायी देती है। आज का भौतिक विज्ञान तो ऐसी तात्त्विक कल्पनाओं से भरा पड़ा है जिन्हें बौद्धिक 'समझ' के लिए मानना ज़रूरी समझा गया। जब कोई यह बताने की कोशिश करता है कि ये 'तत्त्व' या 'पदार्थ' अन्तर्विरोध से भरे हैं तो वैज्ञानिक यही कहते हैं कि अभी तो कम-से-कम हमें इन अन्तर्विरोध-युक्त पदार्थों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना हम अपने भौतिकीय प्रयोगों में होने वाले अनुभवों को समझ ही नहीं सकते।

अद्वैत की दार्शनिक परम्परा इस प्रकार की बात नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपनी बात आनुभविक प्रयोगों पर आधारित नहीं करती और न ही यह स्वीकार करती है कि इस प्रकार के अन्तर्विरोध स्वीकार्य हो सकते हैं। वेदान्त-परम्परा में तो एक और परेशानी की बात भी है : वह न अनुभव की बात करता है, न तर्क की, वह तो उपनिषदों के कुछ वाक्यों को लेकर, जिन्हें साधारणत: 'महावाक्य' कहा जाता है, पकड़े बैठा है और उसका चिन्तन इनकी व्याख्या में ही लगा रहता है। अगर कोई पिछले डेढ़ हज़ार साल के वेदान्त-चिन्तन पर ग़ौर करे तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। **एकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किंचन,** उपनिषद् के इन वाक्यों को लेकर कितनी खींचातानी हुई है और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों ने इनके क्या-क्या अर्थ निकालने की कोशिश की है, इस पर कोई निर्लिप्त और नि:संग भाव से अगर ध्यान दे तो उसके लिए इनको अध्यात्म-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु मानना मुश्किल होगा।

अनुभव और तर्क की बात वेदान्त के सन्दर्भ में अक्सर की जाती है। पर जो लोग यह बात करते हैं अगर उनसे यह पूछा जाये कि क्या वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में भेद 'अनुभव' के आधार पर है, तो उनके लिए स्पष्ट उत्तर देना मुश्किल होगा। यही बात 'तर्क' के सम्बन्ध में है। बात बार-बार मुड़कर उपनिषदों के महावाक्यों पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समाप्त होती है और झगड़ा इस बात का है कि इनका अर्थ क्या है? यह ठीक है कि इस लम्बे झगड़े का एक बौद्धिक पक्ष भी है और उस बौद्धिक पक्ष को समझना आज के दार्शनिक सन्दर्भ में आवश्यक है। लेकिन जब तक इस दार्शनिक पक्ष को हम उस सबसे अलग करके नहीं देखेंगे जिसके साथ यह इस प्रकार घुला-मिला है कि उससे अलग करके इसको देखना मुश्किल है, तब तक हम इसके सन्दर्भ में दी गयी प्रखर तार्किक युक्तियों और उन शुद्ध बौद्धिक समस्याओं की, जिनके सन्दर्भ में यह चिन्तन हुआ है, दार्शनिक सूक्ष्मता को समझ ही नहीं पायेंगे। व्यवहार और परमार्थ के भेद को ही लें या प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के भेद को लें तो इसमें निहित और इनसे सम्बन्धित व संलग्न समस्याओं को हम तब तक देख ही नहीं पायेंगे जब तक उनको हम उस सारे सन्दर्भ से अलग करके नहीं देखेंगे जिसमें ये डेढ़ हज़ार साल तक बहस की विषय रही है।

'व्यवहार' का आख़िर क्या अर्थ है? वह उस सबसे अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है जो हमारी इन्द्रियों का विषय है और जिसके सन्दर्भ में ही हम कर्म करते हैं। शरीर पर आश्रित और आधारित जो जगत् है वही व्यवहार-जगत् है। यही नहीं, उसी जगत् में हम एक अन्य जगत् की रचना करते हैं जिसका मूल एक तरफ मन से उत्पन्न अनेक इच्छाएँ हैं, जिनको भारतीय परम्परा में साधारणत: 'काम' कहा जाता है और दूसरी ओर मूल्योन्मुख चेतना के वे कल्पनाजनित आदर्श, जो कर्म को रूप देने की चेष्टा करते हैं, और तीसरे, भाषा द्वारा रचित मायावी लोक, ये सब मिलकर उस व्यवहार-जगत् की रचना करते हैं जो शरीर के आधार पर बनता है और जिसमें मनुष्य रहता है। यही साधारणत: कर्म का जगत् है, भाव का जगत् है और ज्ञान का भी। लेकिन जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे जड़ जगत् का छिपा हुआ सत् उस रूप में प्रकाशित होता है जो हमारे इन्द्रियानुभूत जगत् से कहीं भी मेल नहीं खाता। मामूली सा उदाहरण लें तो सबको स्पष्ट दिखाई देता है कि सूर्य चलता है। पर यह जो हमें इन्द्रियों से अनुभूत होता है, प्रत्यक्ष रूप में सत्य दिखाई देता है, उसको वैज्ञानिक ज्ञान 'झूठा' ठहराता है और हमको यह मानने पर बाध्य करता है कि जो प्रत्यक्षानुभूत है, जिसके सन्दर्भ में हम हज़ारों साल से व्यवहार करते आये हैं और अब भी करते हैं, वह वास्तव में सत्य नहीं है। सत्य कुछ और है, जो उससे उलटा है, उससे भिन्न है।

लेकिन इस भेद को कोई 'व्यवहार' और 'परमार्थ' का भेद तो नहीं कहेगा! पर क्या यह भेद वैसा ही नहीं है जैसा अद्वैत की परम्परा में और बहुत सारी अन्य दार्शनिक परम्पराओं में प्रत्यक्षानुभूत को मिथ्या या 'व्यवहार' कहने और कुछ अन्य को, जो परोक्ष है, उसे 'परमार्थ' कहने में है? इस सन्दर्भ में और अधिक सूक्ष्म भेद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतीत हों, अधिक ध्यान से देखने पर वे अन्तर्विरोध से ग्रसित प्रतीत होंगे। ईश्वर पर आरोपित कुछ गुण ऐसे ही लगते हैं। जैसे उसको हम 'सर्वज्ञ' भी मानते हैं और सर्वशक्तिमान् भी। 'कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं शक्तः' उसका एक लक्षण दिया जाता है। पर थोड़ा सोचने पर थोड़ी समझ रखने वाले को भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि जो सर्वज्ञ है वह सर्वशक्तिमान् कैसे हो सकता है, क्योंकि उसे तो पहले से ही पता है कि वह क्या करेगा या करने जा रहा है! और अगर ऐसा है तो फिर उसके सर्वशक्तिमान् होने की बात करना किसी ऐसी चीज़ की बात करना है जो अपने-आप में कभी भी चरितार्थ हो ही नहीं सकती। यही बात बहुत से अन्य गुणों के बारे में भी सत्य है।

ईश्वर की बात छोड़ भी दें तो यह बात साधारण सन्दर्भों में बार-बार दिखायी देती है। आज का भौतिक विज्ञान तो ऐसी तात्त्विक कल्पनाओं से भरा पड़ा है जिन्हें बौद्धिक 'समझ' के लिए मानना ज़रूरी समझा गया। जब कोई यह बताने की कोशिश करता है कि ये 'तत्त्व' या 'पदार्थ' अन्तर्विरोध से भरे हैं तो वैज्ञानिक यही कहते हैं कि अभी तो कम-से-कम हमें इन अन्तर्विरोध-युक्त पदार्थों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना हम अपने भौतिकीय प्रयोगों में होने वाले अनुभवों को समझ ही नहीं सकते।

अद्वैत की दार्शनिक परम्परा इस प्रकार की बात नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपनी बात आनुभविक प्रयोगों पर आधारित नहीं करती और न ही यह स्वीकार करती है कि इस प्रकार के अन्तर्विरोध स्वीकार्य हो सकते हैं। वेदान्त-परम्परा में तो एक और परेशानी की बात भी है : वह न अनुभव की बात करता है, न तर्क की, वह तो उपनिषदों के कुछ वाक्यों को लेकर, जिन्हें साधारणतः 'महावाक्य' कहा जाता है, पकड़े बैठा है और उसका चिन्तन इनकी व्याख्या में ही लगा रहता है। अगर कोई पिछले डेढ़ हज़ार साल के वेदान्त-चिन्तन पर ग़ौर करे तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। **एकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किंचन,** उपनिषद् के इन वाक्यों को लेकर कितनी खींचातानी हुई है और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों ने इनके क्या-क्या अर्थ निकालने की कोशिश की है, इस पर कोई निर्लिप्त और निःसंग भाव से अगर ध्यान दे तो उसके लिए इनको अध्यात्म-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु मानना मुश्किल होगा।

अनुभव और तर्क की बात वेदान्त के सन्दर्भ में अक्सर की जाती है। पर जो लोग यह बात करते हैं अगर उनसे यह पूछा जाये कि क्या वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में भेद 'अनुभव' के आधार पर है, तो उनके लिए स्पष्ट उत्तर देना मुश्किल होगा। यही बात 'तर्क' के सम्बन्ध में है। बात बार-बार मुड़कर उपनिषदों के महावाक्यों पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection.

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समाप्त होती है और झगड़ा इस बात का है कि इनका अर्थ क्या है? यह ठीक है कि इस लम्बे झगड़े का एक बौद्धिक पक्ष भी है और उस बौद्धिक पक्ष को समझना आज के दार्शनिक सन्दर्भ में आवश्यक है। लेकिन जब तक इस दार्शनिक पक्ष को हम उस सबसे अलग करके नहीं देखेंगे जिसके साथ यह इस प्रकार घुला-मिला है कि उससे अलग करके इसको देखना मुश्किल है, तब तक हम इसके सन्दर्भ में दी गयी प्रखर तार्किक युक्तियों और उन शुद्ध बौद्धिक समस्याओं की, जिनके सन्दर्भ में यह चिन्तन हुआ है, दार्शनिक सूक्ष्मता को समझ ही नहीं पायेंगे। व्यवहार और परमार्थ के भेद को ही लें या प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के भेद को लें तो इसमें निहित और इनसे सम्बन्धित व संलग्न समस्याओं को हम तब तक देख ही नहीं पायेंगे जब तक उनको हम उस सारे सन्दर्भ से अलग करके नहीं देखेंगे जिसमें ये डेढ़ हज़ार साल तक बहस की विषय रही है।

'व्यवहार' का आख़िर क्या अर्थ है? वह उस सबसे अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है जो हमारी इन्द्रियों का विषय है और जिसके सन्दर्भ में ही हम कर्म करते हैं। शरीर पर आश्रित और आधारित जो जगत् है वही व्यवहार-जगत् है। यही नहीं, उसी जगत् में हम एक अन्य जगत् की रचना करते हैं जिसका मूल एक तरफ मन से उत्पन्न अनेक इच्छाएँ हैं, जिनको भारतीय परम्परा में साधारणत: 'काम' कहा जाता है और दूसरी ओर मूल्योन्मुख चेतना के वे कल्पनाजनित आदर्श, जो कर्म को रूप देने की चेष्टा करते हैं, और तीसरे, भाषा द्वारा रचित मायावी लोक, ये सब मिलकर उस व्यवहार-जगत् की रचना करते हैं जो शरीर के आधार पर बनता है और जिसमें मनुष्य रहता है। यही साधारणत: कर्म का जगत् है, भाव का जगत् है और ज्ञान का भी। लेकिन जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे जड़ जगत् का छिपा हुआ सत् उस रूप में प्रकाशित होता है जो हमारे इन्द्रियानुभूत जगत् से कहीं भी मेल नहीं खाता। मामूली सा उदाहरण लें तो सबको स्पष्ट दिखाई देता है कि सूर्य चलता है। पर यह जो हमें इन्द्रियों से अनुभूत होता है, प्रत्यक्ष रूप में सत्य दिखाई देता है, उसको वैज्ञानिक ज्ञान 'झूठा' ठहराता है और हमको यह मानने पर बाध्य करता है कि जो प्रत्यक्षानुभूत है, जिसके सन्दर्भ में हम हज़ारों साल से व्यवहार करते आये हैं और अब भी करते हैं, वह वास्तव में सत्य नहीं है। सत्य कुछ और है, जो उससे उलटा है, उससे भिन्न है।

लेकिन इस भेद को कोई 'व्यवहार' और 'परमार्थ' का भेद तो नहीं कहेगा! पर क्या यह भेद वैसा ही नहीं है जैसा अद्वैत की परम्परा में और बहुत सारी अन्य दार्शनिक परम्पराओं में प्रत्यक्षानुभूत को मिथ्या या 'व्यवहार' कहने और कुछ अन्य को, जो परोक्ष है, उसे 'परमार्थ' कहने में है? इस सन्दर्भ में और अधिक सूक्ष्म भेद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किये जा सकते हैं और करने चाहिएँ भी। लेकिन जब तक हम यह नहीं देखेंगे कि व्यवहार और परमार्थ का भेद अन्य सन्दर्भों में भी किया जा सकता है और उसको अन्य प्रकार से भी देखा जा सकता है तब तक हम भारतीय दार्शनिक चिन्तन की वैदान्तिक परम्परा में हुए विचार की दार्शनिक गहराइयों को नहीं देख पायेंगे।

यही बात कुछ-कुछ प्रातिभासिक सत्ता के बारे में भी सत्य दिखाई देती है। आख़िर प्रातिभासिक सत् को स्वप्न तक ही सीमित करने में क्या 'तुक' है? उसकी 'वास्तविकता' तो कला-जगत् में दृष्टिगोचर होती है। नाट्य को ही लें तो उसे हम 'सत्ता' की किस कोटि में रखेंगे? अद्वैत चिन्तन ने जो चार कोटियाँ हमें दी हैं उनमें से किसी में भी उसे रखना मुश्किल है। वंध्यापुत्र के समान तो वह है ही नहीं और न उसे हम स्वप्न की संज्ञा दे सकते हैं, क्योंकि वह हमें जागृत अवस्था में ही दिखाई देता है। व्यवहार की कोटि में भी उसको रखना कठिन है, क्योंकि जिसे साधारणत: हम व्यवहार-जगत् कहते हैं उससे वह न केवल स्पष्टत: अलग है बल्कि जानबूझ कर उसे 'अलग' रचा गया है। मंच इसीलिए दर्शकों से थोड़ा दूर और अलग बनाया जाता है। यह ठीक है कि नाटक कभी-कभी दर्शकों के बीच भी खेले जाते हैं और आजकल तो नुक्कड़-नाटक भी बाज़ारों के मोड़ पर खेले जाते हैं। पर उनमें भी दर्शक अलग होते हैं और खेलने वाले अलग। कहने का अर्थ यह है कि उनको उस रूप में व्यावहारिक सत्ता का नाम नहीं दिया जा सकता जिस रूप में इस शब्द का अक्सर व्यवहार होता है। यह और बात है कि उसका एक और भी पक्ष है जो व्यवहार-जगत् से उसी रूप में सम्बन्धित है जिस प्रकार वह सब जिसे हम साधारणत: व्यवहार की कोटि में रखते हैं। आख़िर नाटक के प्रदर्शन में समय भी लगता है और पैसा भी और उसके खेलने और खिलाने वाले उससे पैसा और यश कमाने की इच्छा भी करते हैं। पैसा खर्च करके पैसा न बने तो ज्यादा दिन कोई नाटक नहीं खेलेगा। कम्पनी बन्द हो जायेगी और खेलने वाले कुछ और धन्धा करने लगेंगे। लेकिन यह सब सत्य होते हुए भी उसका वह पक्ष जिसके कारण उसे 'नाटक' कहा जाता है, व्यवहार की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वह तो व्यवहार-जगत् की अनुकृति मात्र होता है और भरत ने उसे ऐसा ही नाम दिया है। भरत ही नहीं अरस्तू भी उसके बारे में इस तरह की बात करता है और एक तरह से यही बात चित्र, साहित्य और कला के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी सही मालूम होती है। हालाँकि यह कहना कठिन होगा कि वास्तु या संगीत किसकी अनुकृति होता हैं, या उन्हें अनुकृति के रूप में देखा जा भी सकता है?

इस सब विचार के एक पक्ष की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है, क्योंकि उसको समझे बिना जो कुछ कहा गया है उसको ठीक तरह से समझना कठिन होगा। दर्शन के इतिहास में विचार जो स्वरूप लेता है वह उन सब बौद्धिक और अन्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परिस्थितियों से 'बँधा' होता है जिसके सन्दर्भ में उसका उदय हुआ है। लेकिन उसकी अपनी भी एक स्वायत्तता होती है जो उसे उस बन्धन से मुक्त होने की प्रेरणा देती है। विचार के इतिहासज्ञ साधारणत: यह बात भूल जाते हैं और बार-बार उसी को दोहराते रहते हैं जो जैसा एक समय कहा गया था, और उसमें किसी भी तरह की ज़रा सी तबदीली को इस तरह से देखते हैं जैसे उसका करने वाला कोई बड़ी भारी भूल कर रहा हो। विचार की मुक्ति की बात आश्चर्यजनक लगेगी, उस परम्परा में भी जहाँ सदैव 'मुमुक्षुत्व' की बात कही गयी है। बन्धन से मुक्त होने की इच्छा सर्वत्र व्याप्त है और हर स्तर पर पायी जाती है। उसको किसी एक स्तर तक ही सीमित रखना उसके स्वरूप को समझने में सबसे बड़ी बाधा है।

इससे भी बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जो 'इतिहास' की बात करता है वह यह नहीं देखता कि कोई भी विचार अपने इतिहास के क्रम में उससे कितनी दूर चला जाता है जहाँ उसका उद्गम या जन्म होता दिखाई देता है। वस्तुओं के बारे में यह कहना कि वे वैसी ही हैं जैसी पहले थीं, हमेशा मुश्किलें पैदा करता है, क्योंकि परिवर्तन हुए बिना अपने 'स्वरूप' में प्रतिष्ठित रहना असम्भव है। इसका एक कारण तो यह है कि किसी को यह पता ही नहीं कि वास्तव में उस वस्तु का 'स्वरूप' क्या है। दूसरे, अगर कोई 'वस्तु' वास्तव में वस्तु है, यानि उसकी कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, तो वह सदैव दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में आती है और उस सम्बन्ध से सहज रूप में परिवर्तित होती है।

एक तरह से यही बात 'विचार' के बारे में भी सत्य है। किसी विशिष्ट विचार के स्वरूप का पता लगाना उससे भी अधिक कठिन है जितना किसी वस्तु विशेष के स्वरूप का पता लगाना। और विचार का अन्य विचारों से सम्बन्धित होना और उस सम्बन्ध के द्वारा उसमें सहज परिवर्तन आना उससे भी अधिक साधारण बात है जो किसी वस्तु और दूसरी वस्तुओं से उसके सम्बन्धों में पायी जाती है।

यही बात अद्वैत चिन्तन में प्रसिद्ध कोटियों के बारे में भी सही है और उनको उसी प्रकार देखना जिस प्रकार वे परम्परा में प्रस्तुत की गयी हैं, उनके साथ अन्याय करना है। यह ठीक है कि एक समय वे एक प्रकार से परिभाषित की गयी थीं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको उसी प्रकार से समझते रहना कोई ठीक बात है। कुछ कोटियों की बात तो हम अभी-अभी कर चुके हैं। पर अद्वैत-चिन्तन की एक कोटि, जिस पर कोई भी विचार करता दिखाई नहीं देता, उसकी ओर ध्यान दें तो जो बात हमने अभी-अभी कही है उसकी सत्यता पर शायद उतना ज्यादा अविश्वास नहीं होगा जितना कि साधारणत: जो अपने को भारतीय परम्परा में 'दार्शनिक' कहते हैं उनको होता है। बात 'तुच्छता' की कोटि की है और एक तरह से स्वयं तुच्छ ही है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्योंकि इस पर न शंकर ने विचार किया है न उनके सम्प्रदाय के किसी अन्य दार्शनिक ने। पहला प्रश्न तो यह सहज रूप में उठता है, या उठना चाहिए, कि आख़िर यह 'कोटि' है क्या और इसको मानने की आवश्यकता आचार्य को क्यों प्रतीत हुई? प्रातिभासिक और व्यावहारिक कोटियाँ तो सहज रूप में समझी जा सकती हैं। परमार्थ की कोटि को भी समझना अधिक मुश्किल नहीं है। लेकिन 'परमार्थ' है क्या, इसके बारे में कोई विशेष मतैक्य दिखाई नहीं पड़ता। आख़िर अनुभव के अनेक प्रकार, स्तर और रूप हैं और हिन्दुस्तान में तो हर आदमी, या कम-से-कम हर परम्परा का गुरु, यह दावा तो करता ही है कि जो वह कह रहा है वह 'अनुभव-सिद्ध' है। यह सब होते हुए भी इस कोटि को मानने में अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पर, 'वंध्यापुत्र' या 'आकाशकुसुम' या 'शशश्रृंग' जैसी वस्तुओं के बारे में बात करने की क्या सार्थकता है? इनकी सत्ता तो कोई भी, किसी भी रूप में मानता ही नहीं है। न ही कोई इनके अभाव की बात करता है। फिर, इनकी बात करने की ज़रूरत क्या थी? लेकिन इससे भी अजीब बात यह है कि न किसी आचार्य को, न उनके किसी शिष्य को यह दिखाई दिया कि ये सब उदाहरण एक ही तरह के नहीं हैं और अगर इन पर गहराई से सोचा जाये तो लगेगा कि उदाहरण प्रस्तुत करने वाले ने इन पर शायद एक क्षण के लिए भी ध्यान नहीं दिया है। वंध्यापुत्र की असम्भावना एक तरह से पारिभाषिक है, या दूसरे प्रकार से कहें तो शब्दों के अर्थ के द्वारा उत्पन्न होती है। 'वंध्या' का अर्थ ही यह है कि वह स्त्री जिसके बच्चा हो ही नहीं सकता। इन दो में जो भेद है उसके बारे में किसी ने ध्यान दिया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु अन्य उदाहरणों में वैसी बात नहीं है। 'वंध्यापुत्र' की जगह कोई 'वंध्यापुत्री' कहे तो उदाहरण में कोई फर्क नहीं पड़ेगा, लेकिन 'आकाशकुसुम' में सहज रूप से यह समझ में नहीं आता कि क्या आकाश में कुसुम के बजाय कोई और चीज़ नहीं हो सकती? 'आकाश' शब्द कोई वंध्या शब्द की तरह नहीं है जिसके अर्थ में ही यह निहित हो कि उसमें कुछ हो ही नहीं सकता। यही नहीं, 'वंध्या' कहने से कम-से-कम यह तो पता चलता है कि किसी स्त्री की बात हो रही है, जबकि 'आकाश' कहने पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किसकी बात हो रही है। आकाश शब्द का अर्थ क्या है और क्या उस अर्थ में यह निहित है कि उसमें 'कुसुम' जैसी चीज़ हो ही नहीं सकती? 'आकाश' अक्सर शब्द का आधार माना जाता है लेकिन ऐसा 'आकाश' शब्द के अर्थ में निहित दिखाई नहीं देता। कहने का अर्थ यह है कि वंध्यापुत्र और आकाशकुसुम, ये दो उदाहरण एक ही कोटि के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते और इसलिए इन दोनों को 'तुच्छ' की कोटि में रखना सही प्रतीत नहीं होता। 'शशश्रृंग' की बात कहें तो वह और भी अजीब लगती है। आख़िर बेचारे खरगोश के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सींग क्यों नहीं हो सकते? साधारणत: सींग नहीं होते हैं, ऐसा अनुभव में पाया जाता है। पर उसके 'सींग नहीं हो सकते' इसका आधार आचार्य को ही पता होगा और अगर उनके पास इसके लिए कोई आधार हो भी तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि यह उदाहरण न वंध्यापुत्र की तरह का है न आकाशकुसुम की तरह का। अगर कल किसी को कोई ऐसा खरगोश मिल जाये जिसके सींग हों, तो फिर क्या हम यह कहेंगे कि उसे 'खरगोश' कहा ही नहीं जा सकता या फिर हम यह मान लेंगे कि हमने जो बात कही थी कि 'शशश्रृंग' जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, वह बात ग़लत थी? आज तो जब जेनेटिक इन्जीनीयरिंग की बात सब लोग करते हैं तब इस पर शायद ही किसी को आश्चर्य हो कि अगर आज तक 'शशश्रृंग' जैसी कोई वस्तु नहीं भी हुई है तो भी उसका उत्पन्न करना मनुष्य के लिए कोई असम्भव कार्य नहीं है।

तुच्छ कोटि के सन्दर्भ में दिये गये उदाहरणों पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अद्वैत परम्परा में इस कोटि पर कोई विशेष विचार किया ही नहीं गया। लेकिन कम-से-कम आज तो हम इस पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र हैं, विशेषकर उस सन्दर्भ में जहाँ पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में इस कोटि पर किया गया विचार हमें उपलब्ध है। पश्चिमी परम्परा में इस तरह की बात को 'सेल्फ कंट्रेडिक्शन' के नाम से इंगित करने की कोशिश की गयी है। भारतीय परम्परा में भी 'वदतोव्याघात' की बात की गई है और 'अर्थ' में 'स्वयं के व्याघाती' की बात करने से पहले दो प्रत्ययों को समझना ज़रूरी है जिन पर शायद पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में भी ध्यान नहीं दिया गया है। पहली तो यह है कि 'स्वयं' या 'आत्मा' या 'सेल्फ' का क्या अर्थ है? दूसरा प्रश्न व्याघात के बारे में है जो सत्यासत्य की कोटियों को मानकर चलता है। व्याघात का अर्थ अक्सर ऐसा माना जाता है कि वह अनिवार्य रूप से असत्य है। लेकिन इसका एक अन्य अर्थ भी है जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। वह यह है कि अगर उसे सत्य मानें तो वह 'असत्य' ठहरता है और अगर उसे असत्य मानें तो वह 'सत्य' ठहरता है। इससे भी एक अन्य गहरे स्तर पर वह 'सत्य'- 'असत्य' की धारणाओं को पूर्वमान्य करता है और इन्हें इतना 'स्वत:सिद्ध' मानता है जैसे इनके बारे में कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। लेकिन जैसा सबको पता है, सत्य-असत्य की बात करते ही प्रमाण-प्रमेय की बात लानी पड़ती है और यह समस्या उठती है कि क्या कोई प्रमाण कभी भी किसी बात को पूर्ण रूप से असंदिग्ध करार दे सकता है? प्रमाणों की 'प्रामाणिकता' कैसे सिद्ध होगी? और अगर नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशि की बात सोचें तो यह मानने में कठिनाई होगी कि प्रमाण-व्यापार कभी भी सन्देह से मुक्त हो सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पश्चिमी परम्परा में इस कठिनाई को ध्यान में रखकर सत्य के दो भेद किये गये हैं जिनको साधारणत: 'विश्लेषणात्मक' (एनेलिटिक) और 'संश्लेषणात्मक' (साइंथेटिक) का नाम दिया जाता है। इनको भारतीय परम्परा में 'स्वत:प्रमाण'-'परत:प्रमाण' की संज्ञा दी गई है, हालांकि दोनों में बहुत कुछ भेद भी है। इसी प्रकार भारतीय चिन्तन में एक और भेद किया गया है जिसकी ओर पश्चिमी परम्परा में ध्यान नहीं दिया गया है, वह भेद 'स्वत:प्रकाश' और 'परत:प्रकाश' के नाम से जाना जाता है। 'प्रकाश' और 'प्रमाण' का सम्बन्ध क्या है इस पर कोई विशेष चर्चा नहीं है, क्योंकि इस बात की सम्भावना पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता कि अगर कोई ज्ञान स्वत:प्रकाश है तो क्या वह स्वत:प्रमाण नहीं होगा और दूसरी तरफ अगर वह स्वत:प्रमाण है तो क्या वह स्वत:प्रकाश नहीं होगा, और अगर जो स्वतःप्रकाश है वही स्वतःप्रमाण हो सकता है तो फिर इन प्रत्ययों में भेद करने की आवश्यकता क्या है?

'एनेलिटिक-साइंथेटिक' के भेद को कई तरह से समझा जा सकता है, लेकिन शायद सबसे आसान और सीधा तरीका इस भेद को समझने का यह है कि हम उस सत्य को 'एनेलिटिक' कहते हैं जिसकी सत्यता जानने के लिए हमको उस 'ज्ञान' से कहीं बाहर जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ज्ञान को समझते ही यह पता चल जाता है कि वह सत्य है या असत्य? वाक्यार्थ के निर्धारण के साथ ही सत्य-असत्य का भी निर्धारण हो जाता है। दूसरी ओर, अगर 'ज्ञान' को समझने के बाद भी सत्य-असत्य का प्रश्न खुला रहता है और उसके निर्धारण के लिए किसी और बात की तलाश करनी पड़ती है तो उसे 'साइंथेटिक' कहा जाता है। इस तरह के ज्ञान की सत्यता या असत्यता उस ज्ञान में स्वयं निहित न होकर उससे स्वतन्त्र किसी अन्य पर आश्रित होती है और यही उसकी अपूर्णता की द्योतक है। परन्तु इस अपूर्णता के कारण ही उस ज्ञान में एक सतत निरन्तरता उत्पन्न होती है, क्योंकि उस ज्ञान की सत्यता का आधार उससे कहीं बाहर होता है और इसीलिए 'जानने वाले' को उस 'तलाश' में प्रवृत्त होना पड़ता है जो धीरे-धीरे स्वयं एक ऐसी प्रक्रिया में बदल जाती है जिसका खात्मा कभी दिखाई नहीं देता। मनुष्य के ज्ञान की कहानी वास्तव में यही है और यह ज्ञान का प्रासाद अनेक लोगों के सामूहिक प्रयत्न से मिलकर बनता है जिसका कुछ अंश प्रत्येक को जन्म से ही विरासत में मिलता है। इस विशाल प्रासाद के अनेक खण्ड हैं और उनमें भी अनेक अलग-अलग कमरे हैं। कुछ लोग इसकी नींव की तलाश करते रहते हैं जिससे उन्हें यह आश्वासन हो जाये कि कोई भी भूचाल कभी भी इसे खण्डित नहीं कर पायेगा। पर ऐसा विश्वास उतना ही भ्रामक है जितना कि मनुष्य की बनायी गयी दूसरी इमारतों के बारे में। हालांकि किसी को यह सोचना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी अजीब लगेगा कि ऐसा समय भी आ सकता है जब ये विशाल सत्तर मंजिली अट्टालिकाएँ खण्डहर का रूप ले लेंगी या इतनी भूमिगत हो जायेंगी कि कोई पुरातत्त्व का विद्यार्थी या अन्वेषक ही उनको खोज पायेगा।

हड़प्पा की कहानी सबको पता है और विजयनगर साम्राज्य की बात भी कम-से-कम हिन्दुस्तान के कुछ रहने वालों को तो मालूम ही है। वैसे पुरातत्त्व ने ऐसी अनेक संस्कृतियों और सभ्यताओं का पता लगाया है जो आदमी की स्मृति से पूर्णरूपेण विलुप्त हो चुकी थीं।

लेकिन ऐसा बहुत कम लोगों को पता है कि मनुष्य के ज्ञान की कहानी भी बहुत कुछ इन संस्कृतियों और सभ्यताओं जैसी ही है। बहुत कुछ जो मनुष्य ने अथक परिश्रम करके पाया था वह आज उसकी स्मृति से भी लुप्त हो गया है। इस पर सहज विश्वास करना कठिन है लेकिन किसी भी विशाल पुस्तकालय की धूल भरी किताबों को देखकर सहज अनुमान हो सकता है कि इनमें छिपा हुआ ज्ञान का हाल आज कैसा है और अगर पाण्डुलिपियों के किसी भण्डार को देखने का कभी किसी को मौका मिले तो वह आश्चर्य में डूबे बिना नहीं रहेगा कि आख़िर इन सबको कौन समझ पायेगा? धीरे-धीरे पुरानी प्रसिद्ध भाषाओं का ज्ञान खत्म होता जा रहा है। संस्कृत की बात छोड़ दें, लैटिन व ग्रीक के कितने विद्वान आज बचे हैं? यही बात अरबी फारसी की भी है और चीन की उस पुरानी ज़ुबान की भी जिसका नाम लेते ही एक ऐसी संस्कृति की याद आती है जिसकी बात सभी लोग करते हैं पर जिसके बारे में जानते शायद कुछ लोग ही हैं। कहने का सीधा-सादा मतलब यह है कि मनुष्य के ज्ञान की खोज का भी वही हाल है जो उसकी अन्य जिज्ञासाओं का है। जो कुछ पाया गया था उसमें से बहुत थोड़ा ही बच पाता है और वह थोड़ा भी काल में इतना बदल जाता है कि यह कहना मुश्किल होता है कि उसका रूप वही है जो प्रारम्भ में था।

फिर भी 'बुनियाद' की बात करना कोई इतनी बड़ी ग़लती नहीं है जितना आज लोग समझ बैठे हैं। नींव को स्वत:सिद्ध होने की ज़रूरत नहीं है। उसके लिए तो सिर्फ इतना ही काफी है कि उस पर कई मंज़िलें खड़ी हैं और अगर उसको कोई धक्का लगे या उनमें कोई तबदीली हो तो मंज़िलों में दरारें आये बिना नहीं रहेंगी। ज्ञान के बारे में भी यह बात काफी हद तक ठीक दिखाई देती है। आख़िर गणित, भाषाशास्त्र और प्रमाणशास्त्र कुछ ऐसे ही शास्त्र हैं जो कुछ-कुछ ज्ञान की नींव का काम करते हैं। यही बात जड़ द्रव्य के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके बारे में भी सच दिखाई देती है। ऐसे ज्ञान को आज भौतिकी कहा जाता है और रसायनशास्त्र की भी हालत कुछ-कुछ ऐसी ही है। ज्ञान के इन क्षेत्रों में जब कोई गहरा परिवर्तन होता है तो वह एक तरह से सभी अन्य ज्ञानों को इस तरह से हिला देता है कि वे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपने पूर्व स्वरूप को उस प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते जैसे कि वे पहले करते थे। पिछले सौ सालों में भौतिकी के क्षेत्र में जो आमूल परिवर्तन हुए हैं और जो आईंस्टाइन और हाइज़ेनबर्ग के नाम से जुड़े हैं उनका किसे पता नहीं है? यही बात उससे कुछ पहले रेखागणित के क्षेत्र में जो मूलभूत क्रांति हुई थी और जिसको नॉन-यूक्लीडियन ज्योमेट्री के नाम से जाना जाता है उसके बारे में भी है। गणित के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी में जो परिवर्तन हुए उनके दूरगामी प्रभावों का आकलन करना कठिन है, लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने ज्ञान के अनेक क्षेत्रों की मूल दृष्टियों में ही परिवर्तन ला दिया। यही बात चेतना सम्बन्धी विचार की भी है और मनुष्य के समाज और राज्य सम्बन्धी विचार की भी। फ्रायड और मार्क्स के नाम सबको पता हैं। ज्ञान का कोई भी क्षेत्र आज इनके प्रभाव से नहीं बचा। यह कहना मुश्किल है कि गणित, भाषाशास्त्र और प्रमाणशास्त्र में होने वाले परिवर्तनों को अधिक महत्त्व दें या भौतिकी में होने वाले परिवर्तनों को या मनोविज्ञान और समाज और राज्य सम्बन्धी विचार में होने वाले परिवर्तनों को।

ज्ञान की कहानी को इस प्रकार देखने पर जो दृष्टि उत्पन्न होती है वह उस दार्शनिक दृष्टि से मूलत: भिन्न है जो ज्ञान की चर्चा में संलग्न होती है और जिसे साधारणत: ज्ञानमीमांसा कहा जाता है। परन्तु यह कहानी स्वयं उस भेद पर आश्रित है जिसे हमने एनेलिटिक-साइंथेटिक का नाम दिया था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि आज स्वयं दार्शनिकों ने इस भेद पर प्रश्नचिह्न लगाया है और यह मानने से इन्कार करने की कोशिश की है कि इनमें मूलत: कोई भेद है। क्वाइन का प्रसिद्ध लेख इस सन्दर्भ में सबको पता है परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि पिछले पचास-साठ वर्षों में ऐनेलिटिक के नाम से समझे जाने वाले ज्ञान के बारे में भी कुछ इस प्रकार का चिन्तन हुआ है जो उसके बारे में भी कुछ नये प्रश्नों को उठाता है और उसके बारे में नयी तरह से सोचने को बाध्य करता है।

इस सन्दर्भ में जिन आधारभूत सिद्धान्तों की ओर दार्शनिकों का ध्यान गया है उनमें एक ओर तो अन्तर्विरोध से ग्रसित स्वयंव्याघाती वाक्य या ज्ञान के बारे में है और दूसरी ओर वह उस सम्बन्ध के बारे में है जिसे पश्चिमी परम्परा में आइडेंटिटी रिलेशन कहा गया है और जिसको भारतीय दर्शन में साधारणत: तादात्म्य या सारूप्य की संज्ञा दी जाती है, हालांकि तादात्म्य का सम्बन्ध जिस प्रकार से भारतीय दर्शन में समझा गया है वह उस आइडेंटिटी रिलेशन से पूर्णरूपेण भिन्न है जिसे अरस्तू ने लॉ ऑफ आइडेंटिटी का नाम दिया है।

अरस्तू के लिए 'अ अ है' विचार के उन तीन आधारभूत नियमों में से एक है जिनमें से अन्य दो का नाम 'लॉ ऑफ कंट्रेडिक्शन' और 'लॉ ऑफ एक्स्क्लूडिड

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मिडल' है। इन दो का आकारिक रूप है—'अ इ और ~ इ दोनों एक साथ नहीं हो सकता' और 'अ अनिवार्यत: या तो इ है या~ इ है।' इन्हें आज अन्य प्रकार से लिखा जाता है। इसके विपरीत न्याय में 'घटोघट:' वाक्य निरर्थक माना गया है क्योंकि ज्ञान का अर्थ ही यह है कि उसमें कोई नवीनता हो। यह वाक्य वास्तव में कुछ नया नहीं कहता। लेकिन हाल ही में प्रो. वी.एन. झा ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि न्याय की कुछ सर्वमान्य मान्यताओं के आधार पर इसको उनसे निगमित सिद्ध किया जा सकता है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि यदि नैयायिक उन बातों को मानते हैं तो उनको इस वाक्य को भी अर्थपूर्ण मानना पड़ेगा, क्योंकि यह उनसे स्पष्टत: निगमित होता है। झा साहब की यह बात दूसरे नैयायिकों को मान्य नहीं है लेकिन इस चर्चा में भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की पत्रिका में कई विद्वानों ने भाग लिया है जिनमें मत-वैभिन्न्य है।

बात एक तरह से इससे भी गहरी है और वह जहाँ एक ओर भेद की सत्यता से सम्बन्ध रखती है वहीं दूसरी ओर इस बात से भी सम्बन्ध रखती है कि क्या विचार के लिए भेद अनिवार्य है? क्योंकि बग़ैर उसके विचार हो ही नहीं सकता। भेद-अभेद की चर्चा भारतीय दर्शन के मूल में है और अद्वैत चिन्तन का अन्य सभी चिन्तनों से भेद इसी पर आधारित है।

चिन्तन, तर्कबुद्धि और प्रमाण-प्रमेय-व्यापार सभी 'भेद' को माने बग़ैर अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते। यह बात प्रसिद्ध जैनाचार्य आचार्य समन्तभद्र ने अपनी पुस्तक **आप्त मीमांसा** में बहुत पहले स्पष्ट रूप में कही थी। उनका कहना था कि 'हेतु' और 'साध्य' के बीच भेद माने बिना तर्क हो ही नहीं सकता और अद्वैत दार्शनिकों को कम-से-कम इस भेद को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि अगर वे इस भेद को स्वीकार नहीं करते तो फिर उनके दिये हुए तर्क स्वयं दोषग्रसित होंगे और उनको स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं रहेगा।

आचार्य समन्तभद्र का यह तर्क एक प्रकार से उस समस्या की ओर ध्यान दिलाता है जो सारे बौद्धिक व्यापार के लिए एक मूलभूत समस्या को उत्पन्न करती है। बुद्धि को माने बिना मनुष्य 'सही-ग़लत' का निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाता है, लेकिन जब वह बुद्धि के बारे में विचार करता है तो उसको लगता है कि बुद्धि स्वयं 'आत्मव्याघाती' है, क्योंकि या तो वह 'अनवस्था' दोष से ग्रसित होती है या 'चक्रक' दोष से। किसी बात को माने बिना बात चल ही नहीं सकती और अगर कोई यह पूछे कि इस बात को मानने का आधार क्या है तो बात करने वाले को कोई और बात बतानी पड़ेगी और यह बात उस 'बात' के लिए फिर लागू हो सकती है। तंग आकर आदमी यही कहेगा कि तुम्हें दिखाई नहीं देता यह बात स्वयंसिद्ध है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसके बारे में शंका नहीं की जा सकती? पर अगर कोई भी बात संदेह या शंका से परे है तो फिर सभी बातों को ऐसा क्यों नहीं माना जाये? इसका कोई आसान उत्तर है नहीं, कम-से-कम 'तार्किक' सन्दर्भ में। वैसे, मन अगर किसी बात को नहीं मानता तो फिर उसके बारे में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। दार्शनिक लोग इसको मनोवैज्ञानिक कह कर अलग कोटि में रखते हैं और उनके अनुसार ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में इसकी बात करना अपने 'अदार्शनिक' होने का प्रमाण देना है।

भारतीय परम्परा में बुद्धि के बारे में इस कठिनाई को जहाँ एक ओर नागार्जुन ने व्यक्त करने की कोशिश की थी वहीं दूसरी ओर श्रीहर्ष ने भी अपने **खण्डनखण्डखाद्य** में इसकी विशद चर्चा की है। इनके नाम प्रसिद्ध हैं लेकिन यह साधारणत: नहीं देखा गया कि प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात बिल्कुल दूसरे दृष्टिकोण से कहने की कोशिश की थी। प्रभाकर के मत को साधारणत: इस प्रकार रखा जाता है कि सभी ज्ञान एक प्रकार से स्वयंसिद्ध ही होता है, या दूसरी प्रकार से कहें तो वह तब तक विश्वसनीय रहता है जब तक उस पर संदेह करने के लिए कोई आधार उत्पन्न नहीं हो। साधारणत: इस सन्देह का आधार, जो हमें ज्ञात है उसके सन्दर्भ में उत्पन्न नहीं होता और इसीलिए हम विश्वास के सहारे जीवन बिताते हैं। लेकिन अगर कभी किसी कारणवश सन्देह या शंका उत्पन्न हो भी जाये तो फिर उस कारण का निवारण भी आसानी से हो सकता है। कम-से-कम इतना तो स्पष्ट ही है कि वह सन्देह या शंका कभी भी ऐसी नहीं हो सकती कि उसका निवारण अपने-आप में असम्भव हो।

प्रभाकर की यह बात अधिकतर दार्शनिकों को पसन्द नहीं आयी, न उन्होंने ही इस पर कोई विशेष ध्यान दिया। इसी तरह की एक और बात जैन दार्शनिकों ने अपने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त में प्रतिपादित करने की चेष्टा की थी, परन्तु उस ओर भी कोई अधिक ध्यान नहीं दिया गया। जैन दार्शनिकों के ये सिद्धान्त इस बात को प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं कि कोई मत अपने आप में न सम्पूर्णत: सत्य है न असत्य। वह सन्दर्भ विशेष और दृष्टि विशेष में ही सत्यासत्य ठहरता है और ऐसी कोई स्थापना हो ही नहीं सकती जो सभी सन्दर्भों और दृष्टियों में सत्य या असत्य पायी जाये।

बुद्धि और सत् के सम्बन्ध में जो प्रश्न उपस्थित होते हैं वे जहाँ एक ओर 'सत्' और 'बुद्धि' के अपने स्वरूप से सम्बन्धित हैं वहीं दूसरी ओर वे एक ओर चेतना और बुद्धि के सम्बन्ध से भी सम्बन्धित हैं और दूसरी ओर 'चेतना' और 'सत्' के सम्बन्ध से भी। इससे भी अधिक गहरा प्रश्न तो यह है कि चेतना का स्वयं सत् क्या है? और जब भी चेतना की बात होती है तो ऐसा लगता है कि उसके सत् के सम्बन्ध में केवल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत्यता-असत्यता की बात करना निरर्थक है, क्योंकि चेतना होते हुए भी उसके बारे में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह वैसी नहीं है जैसी उसे होना चाहिए, उसमें कोई कमी है जो दूर करनी चाहिए और जो दूर की जा सकती है। कहने का अर्थ यह है कि चेतना की बात करते ही 'मूल्य' की बातं स्वयं सहज रूप में उत्पन्न होती है और ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में जो सत्य है उसको उससे अलग नहीं किया जा सकता जिसको अनेक ऐसे शब्द बताने की कोशिश करते हैं जिनका केन्द्र-बिन्दु यही है कि जो 'है' वह वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। साधारणत: इस सन्दर्भ में शिव और सुन्दर की बात कही जाती है । परन्तु ये दो शब्द उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं जिसकी मांग चेतना अपने स्वयं से सदैव करती दिखाई देती है।

सत् के सन्दर्भ में चेतना के इन दो पक्षों की बात साधारणत: नहीं की जाती। चेतना स्वयं सत् है और उसका जो भी विषय होता है उसके बारे में वह हमेशा एक प्रश्नसूचक दृष्टि अपनाती है जिसका एक आयाम इस बात से सम्बन्धित होता है कि क्या वह उस विषय को उसी प्रकार जानती है जिस प्रकार वह विषय स्वयं है? दूसरी ओर वह इस विषय के प्रति प्रिय-अप्रिय या इष्ट-अनिष्ट की अभिवृत्ति अनुभव करती है । इस प्रेयता या श्रेयता के अनेक आयाम हो सकते हैं जिनकी चर्चा करना यहाँ अवान्तर है। दूसरी ओर चेतना अपने स्वयं के बारे में भी यह सदैव महसूस करती है कि वह शांत है या अशांत, प्रसन्न है या अप्रसन्न, उदात्त है या अनुदात्त, स्नेहपूर्ण है या राग-द्वेष-मोह से परिपूर्ण? इस प्रकार के अनेक विशेषण उसके बारे में सहज उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन आसानी से नहीं किया जा सकता लेकिन जिनका सभी को सहज रूप में पता होता है। इसी से वह सत्य उद्भूत होता है जो एक ओर मनुष्य को सारे संसार को उस रूप में परिवर्तित करने की चेष्टा में प्रवृत्त करता है जो उसे उससे अधिक अच्छा लगता है जैसा वह उस समय प्रतीत होता है और दूसरी ओर यही चेतना उसे स्वयं अपनी चेतना में परिवर्तन करने के लिए भी प्रवृत्त करती है। लेकिन यह बात जो सहज रूप में सभी को सदैव अनुभूत होती रहती है दार्शनिक विचार का केन्द्र-बिन्दु नहीं बनती है, क्योंकि दार्शनिक चिन्तन यह मान ही नहीं सकता कि 'सत्' का स्वरूप कभी ऐसा भी हो सकता है कि वह स्वयं अपने आप में और जो कुछ भी अन्य है उसमें परिवर्तन लाने की सतत चेष्टा करता रहे। अद्वैत चिन्तन इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है। वैसे यह बात अन्य दार्शनिक परम्पराओं में भी सहज रूप में प्राप्त होती है। अद्वैत दर्शन इस सत्य को इसीलिए स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि इसमें जो 'है' और जो 'होना चाहिए' उसमें सदैव 'भेद' रहता है। वास्तव में देखें तो दार्शनिक दृष्टि न कर्म को समझ सकती है न काल को, न परिवर्तन को, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि इनको अपनी 'समझ' से बाहर पाती है। लेकिन आश्चर्य की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बात तो यह है कि वह फिर भी श्रेय की बात करती है, प्रेय और श्रेय में भेद करती है, पुरुषार्थ की बात करती है, साधन और साध्य का भेद करती है। ये सब भेद मनुष्य के मूल में उपस्थित हैं और मनुष्य की सत्ता को एक प्रकार से परिभाषित करते हैं। जब तक मनुष्य की बुद्धि मनुष्य के इस सत् को स्वीकार नहीं करेगी तब तक वह मनुष्य को समझने में असमर्थ रहेगी।

दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने मनुष्य को उस प्रकार से देखा ही नहीं जिस प्रकार वह है। उसके लिए मनुष्य न पैदा होता है न मरता है, न कभी वह बालक था, न युवा और न वृद्ध। यहीं नहीं, इसमें लिंग-भेद को भी वह अस्वीकार करता है : उसके लिए न कोई स्त्री है न पुरुष, न युवती है न युवक और वह कभी प्रेम की बात करता है तो सिर्फ भगवान् से। बीमारी और पागलपन तो उसने शायद कभी देखे ही नहीं हैं और न उसने कभी चूल्हे-चौके की बात की है न झाड़ू-पोंछे की। कहने का मतलब यह है कि दर्शन के नाम पर जो हज़ारों साल से चिन्तन हुआ है उसका आदमी से कोई लेना-देना नहीं है। शायद मनुष्य ने दार्शनिक चिन्तन को इसीलिए जगह दी है कि वह उसे अपने वास्तविक जीवन से कुछ क्षण के लिए दूर ले जा कर किसी ऐसे कल्पित सत्य में 'रहने की' सुविधा दे। यह बात दूसरी है कि वहाँ रहना कुछ क्षणों के लिए ही हो सकता है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता भी यह सब करते हैं। दार्शनिक शायद उसी बात को बुद्धि का जामा पहना कर मनुष्य को उस माया लोक में ले जाता है जहाँ उसके अनुसार चरम सत्य के दर्शन होते हैं— अनित्यता से नित्यता की ओर, दुःख भरे संसार से शाश्वत आनन्द की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर। इससे बड़ा 'छलावा' क्या हो सकता है? वैसे क्या भगवान् ने स्वयं यह नहीं कहा था 'द्यूतं छलवतामस्मि'? और दर्शन से बड़ा 'जुए का खेल' और क्या हो सकता है?

बी-189, विश्वविद्यालय मार्ग,
बापू नगर, जयपुर-302004

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कोटियां और कांट

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

पिछले दिनों दयाकृष्ण जी ने कान्ट की कोटियों के विषय में कुछ प्रश्न उठाए थे। अनेक अन्य विचारकों ने भी इन प्रश्नों पर विचार किया है। इस विषय में आई सी पी आर के जर्नल की हाल की प्रतियाँ देखी जा सकती हैं। स्वयं दयाजी ने इन प्रश्नों को लेकर इसी जर्नल में लिखा है। (खंड अट्ठारह, संख्या चार) उनके ऐसे ही एक लेख पर उन्मीलन-गोष्ठी में विचार-विमर्श भी हुआ। इस प्रसंग से कान्ट के क्रिटीक के एक महत्त्वपूर्ण अंग का पुन: अध्ययन करने की मुझे आवश्यकता प्रतीत हुई। यह लेख उसका एक आरम्भिक परिणाम है।

कान्ट की ज्ञान मीमांसा में कोटियों से क्या आशय लिया गया है तथा ज्ञान में इन कोटियों की क्या भूमिका है, यह समझने के लिए, यह जानने का प्रयास आवश्यक है कि कान्ट की समस्या क्या थी तथा ज्ञान के विषय में उनकी क्या सूझ थी।

प्रसिद्ध है कि कान्ट के सम्मुख 'ज्ञान' को लेकर बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के बीच विवाद था। बुद्धिवाद का निष्कर्ष था—विषय क्या है, यह बुद्धि द्वारा निर्धारित होता है। किस सीमा में तथा कैसे, इन प्रश्नों को लेकर बुद्धिवाद में विभिन्न मत थे। इसके विपरीत अनुभववादी मानते थे कि विषय बुद्धि के प्रभाव तथा कार्यों से स्वतन्त्र होता है। बुद्धि तथा विषय के सम्बन्ध को लेकर अनुभववाद के भी अनेक रूप विकसित हुए। इस अवस्था में ज्ञान के सन्दर्भ में सही दृष्टि क्या है, विचार का विषय से क्या सम्बन्ध है,इस सम्बन्ध का क्या आधार है, यह कैसे संभव है कि जो विचार विषय से स्वतन्त्र होता है वह विषय को निर्दिष्ट कर सकता है—ये और ऐसे ही अनेक प्रश्न किसी भी विचारशील को प्रेरित करने के लिए पर्याप्त थे।

कहा जाता है कि अनुभववाद की परिणति ह्यूम के संशयवाद में हुई। ह्यूम के विश्लेषण का परिणाम था—कुछ निश्चयात्मक नहीं है। आनुभविक प्रतीतियों में वैविध्य तथा क्रम तो स्पष्ट है, परन्तु व्यवस्था एवं एकत्व का अभाव है। ज्ञान को ज्ञान-रूप प्रस्तुत करने के निमित्त किसी विषय को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। विश्वास तथा नैतिकता के सन्दर्भ में ह्यूम के निष्कर्ष विप्लवकारी थे। यह स्थिति किसी भी गंभीर चिन्तक की नींद उड़ाने के लिए काफ़ी थी। स्वयं कान्ट ने भी ऐसा माना।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ज्ञानमीमांसा की इस संकटमय स्थिति से कैसे उबरा जाय, यह कान्ट की एक प्रमुख समस्या थी। दूसरी ओर दिक्-काल के सम्बन्ध में लायब्नीज़ तथा न्यूटन के विरोधी मतों ने एक ओर कान्ट की समस्या को उलझाया तो दूसरी ओर उनसे कान्ट की कुछ महत्त्वपूर्ण सूझों को बल भी मिला। इन सूझों से कान्ट को अपनी समस्या के समाधान में रचनात्मक योग प्राप्त हुआ।

न्यूटन का मानना था कि दिक्-काल निरपेक्ष तथा वस्तुनिष्ठ सत्ताएँ हैं। लायब्नीज़ का ख्याल था कि वे मात्र सम्बन्धसूचक तथा मनोगत हैं। कान्ट की सोच थी कि दिक् तथा काल का वस्तुओं की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता। यह भी स्पष्ट था कि दिक्-काल हमारे अनुभव को एक व्यवस्था प्रदान करते हैं। दिक्-काल में काल की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा अनिवार्य होती है। समस्त बोध कालक्रम में ही होता है। कभी-कभी कालातीत की बात होती है, परन्तु कालातीत का संकेत किसी विषयवस्तु की ओर होता है, उसके ग्रहण के सन्दर्भ में नहीं।

दिक्-काल की जो समस्या न्यूटन तथा लायब्नीज़ के विरोधी विचारों का परिणाम थी उसका कान्ट ने एक विलक्षण समाधान प्रस्तुत किया। इस समाधान में यह सूझ समाहित थी कि गणित अथवा उसकी कोई भी विधा दिक्-काल के सन्दर्भ में ही सम्भव है। कदाचित् इसी लिए दिक् तथा काल को कान्ट ने शुद्ध अथवा अनुभव-स्वतन्त्र प्रदत्तों के रूप में ग्रहण किया। यहाँ प्रदत्त से आशय उस सामग्री से है जो बुद्धि को किसी बाह्य स्रोत से प्राप्त नहीं होती बल्कि किसी रूप में बुद्धि की क्रिया के लिए आवश्यक होती है। कान्ट ऐसे प्रदत्त को 'प्योर इन्ट्यूशन' कहते हैं। दूसरी ओर कान्ट दिक्-काल को आकारात्मक भी कहते हैं। वे न केवल शुद्ध प्रदत्त हैं अपितु बाह्य प्रदत्तों के ग्रहण में पूर्वापेक्षित आकार भी हैं। दिक् की तुलना में काल अन्तःसंवेदन का रूप रखता है। जो कुछ दिक् में प्रस्तुत होता है वह काल में अर्थात् अन्तःसंवेदन में भी गृहीत होता है। इस प्रकार कान्ट की योजना में काल का एक विशिष्ट स्थान है।

घटना के रूप में ज्ञान काल-सन्दर्भ ग्रहण करता है। यह काल-सन्दर्भ एक क्षण-क्रम की ओर संकेत करता है। ज्ञान की किसी इकाई को लें, उसमें वैविध्य तथा एकत्व दोनों का बोध समाविष्ट होता है। अब, यदि वैविध्य क्षणक्रम में प्रकट होता है तथा वह एकलरूप में गृहीत होता है, तब यह पूर्वापेक्षित है कि क्षण-क्रम भी एकत्व के रूप में प्रभावी और गृहीत हो।

वैविध्य एकल रूप में अनेक प्रकार से बोध का विषय बनता है। कहीं वैविध्य प्रधान होता है तो कहीं एकत्व। कहीं क्रम या तो एक ही अनावर्तनीय रूप में, एक ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दिशोन्मुख प्रकट होता है, और कहीं क्रम अनेक रूप या विन्यास ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार एकत्व कहीं स्थायित्व का बोध कराता है तो कहीं किसी समग्र का।

वैविध्य एकत्व रूप में प्रकट हो इसके लिए यह पूर्वापेक्षित है कि वैविध्य कालक्रम के किसी बिन्दु पर उपस्थित हो, अथवा उसकी उपस्थिति किन्हीं अवस्थाओं से संगत हो। ऐसी ही अवस्था में विषय का विषयी से सम्पर्क होना, अथवा विषय का संभव होना कहा जा सकता है। विषय की उपस्थिति-अनुपस्थिति, उसका किन्हीं अवस्थाओं से संगत होना या न होना, उसके संभव होने या असंभव होने का पता देते हैं।

विषय-ग्रहण में काल-सन्दर्भ का पता तभी चलता है जब बोध-प्रक्रिया सुदीर्घ हो तथा सप्रयास हो। जहाँ तक विषयी पक्ष का सम्बन्ध है, व्यस्तता काल-बोध में बाधक होती है। यह भी ध्यातव्य है कि काल का प्रत्यक्ष या बोध वस्तु या विषय के रूप में कभी नहीं होता। काल-बोध का यह एक लक्षण प्रतीत होता है कि वह स्व-बोध के रूप में प्रकट होता है। यह स्व-बोध क्षण-क्रम का सहवर्ती होता है, भले ही हमें इसका पता चले अथवा कोई पता नहीं चले। वस्तुत: जिस क्षण-क्रम में वैविध्य एकत्व रूप लेता है वह वही है जो स्व-बोध का सहवर्ती है।

विषयी के पक्ष से स्व-बोध भी विभिन्न क्षणों के क्रम में एकत्व प्राप्त करता है जिसे बहुधा किसी स्थायी सत्ता से अभिन्न मान लिया जाता है। इस एकत्व के कारण ही विषय का विषय रूप में बोध संभव होता है। स्व-बोध के एकत्व की पूर्वापेक्षा के रूप में कान्ट ने एक परा (ट्रान्सेन्डेन्टल) इकाई को आवश्यक माना है। परन्तु यह इकाई कोटियों तथा स्व-बोध के एकत्व की पूर्वापेक्षा होने के कारण कोटियों में आबद्ध नहीं होती। इसी कारण वह ज्ञान का विषय नहीं होती बल्कि परा सिद्धान्त का रूप रखती है।

कान्ट की दृष्टि में ज्ञान के सन्दर्भ में प्रदत्त की एक महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य भूमिका है। परन्तु प्रदत्त की बात करते समय किसी विशिष्ट प्रदत्त की बात नहीं होती अपितु किसी भी प्रदत्त की बात होती है। प्रश्न यह उठता है कि कब तथा किन अवस्थाओं में कोई भी प्रदत्त ज्ञान का रूप लेता है। इस प्रश्न का उत्तर जिस विचार-तन्त्र में रूपायित होता है उसमें कोटियों की केन्द्रीय भूमिका है।

क्रिटीक में 'ट्रान्सेन्डेन्टल अनालीटिक' के आरम्भ में ही कुछ कॉन्सेप्ट्स (बेग्रिफ़) का उल्लेख है। 'कैटेगरी' (कोटि) तथा 'कॉन्सेप्ट' (संप्रत्यय) का प्रयोग लगभग पर्यायवाची रूप में हुआ है। कहा गया है कि संप्रत्यय शुद्ध और आनुभविक दो प्रकार के होते हैं (बी 74)। कोटि के साथ शुद्ध अथवा आनुभविक विशेषण नहीं जोड़े गये हैं। अन्य शब्दों में, कोटि तथा शुद्ध संप्रत्यय पर्यायवाची हैं। यदि संप्रत्यय का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रयोग कहीं शुद्ध संप्रत्यय के रूप में नहीं होता तब वह प्रयोग अपने साथ 'आनुभविक' विशेषण लेता है।

क्रिटीक के प्रथम संस्करण में कोटि के पर्याय रूप में रूल (नियम) शब्द का प्रयोग भी हुआ है। नियम शब्द का प्रयोग कोटि के प्रयोगात्मक रूप की ओर संकेत करता है, दूसरी ओर संप्रत्यय किसी रूप में किसी अन्तर्वस्तु (कन्टेन्ट) की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। यद्यपि कान्ट कोटि को, मुख्यतया, आकारगत रूप में ही प्रयुक्त करते लगते हैं, वे एक विशिष्ट अर्थ में कोटि में अन्तर्वस्तु की अवधारणा का समावेश भी करते हैं। (बी 93, 94) सामान्य लौजिक से अपनी ट्रान्सेन्डेन्टल लौजिक को अलग करते समय वे सामान्य लौजिक को पूर्णतया आकारिक बताते हैं, इसके विपरीत ट्रान्सेन्डेन्टल लौजिक में वे अन्तर्वस्तु की अवधारणा को भी समाहित करते हैं। यह अन्तर्वस्तु दिक्-काल की अनुभवपूर्व सामग्री में उपलब्ध होती है (बी 79) 'कोटि' पद के ये विभिन्न प्रयोग कोटि के भिन्न आयामों की ओर संकेत करते हैं।

कान्ट ने संवेदनात्मकता (सेन्सिब्लिटि) के विपरीत बोध-संस्थान (अन्डरस्टैन्डिंग) को शुद्ध संप्रत्ययों का संस्थान कहा है। कोटियाँ 'मूल' संप्रत्यय हैं तथा उन संप्रत्ययों से भिन्न हैं जो इन मूल संप्रत्ययों से संयुक्त रूप में अथवा निस्सरित होकर बनते हैं (बी 106)। यह बात उस बात से मेल नहीं खाती जिसका सम्बन्ध कोटियों की सरणी में प्रत्येक वर्ग में तीसरी कोटि से है। क्योंकि वहाँ कान्ट तीसरी कोटि को पहली दो कोटियों का संयुक्त रूप कहते हैं (बी 110)। इसका विवेचन कुछ देर बाद।

बोध-संस्थान के विषय में कान्ट एक और महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं। उनके अनुसार, संप्रत्ययों की दृष्टि से वह संस्थान परिपूर्णता रखता है। जैसा प्रसिद्ध है, सरणी में बारह कोटियाँ होती हैं। संपूर्णता का अर्थ हुआ कि मूल बारह कोटियों के अतिरिक्त कोई अन्य कोटि अपेक्षित नहीं है और न ही इनमें कोई कोटि अनावश्यक है (बी 89) कान्ट का यह दावा पूर्णतया वैध सिद्ध नहीं हुआ जैसा हम आगे देखेंगे।

आगे 'अनालीटिक ऑव कॉन्सेप्ट' के प्रथम अध्याय में वे कहते हैं कि संप्रत्यय प्रकार्यों पर आधारित होते हैं। प्रकार्य से एकत्व साधन का आशय लिया जाता है। यह प्रकार्य विभिन्न प्रतीतियों (रेप्रेज़ेन्टेशन्स) को किसी समान रूप या आकार में व्यवस्थित करता है (बी 93)। बोध-संस्थान इन प्रतीतियों को लेकर केवल निर्णयों में ही सक्रिय होता है। क्योंकि संवेदों के अतिरिक्त कोई विचार प्रदत्त से अपरोक्ष रूप में सम्बन्धित नहीं होता, निर्णय विषय का परोक्ष ज्ञान व्यक्त करता है। प्रत्येक निर्णय में एक संप्रत्यय होता है जो अनेक को एक में ग्रहण करता है। इन्हीं अनेक में से किसी एक-विशेष प्रदत्त को भी ग्रहण करता है और इस प्रकार उस विषय से अव्यवहित रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में सम्बन्धित होता है। सभी निर्णय अनेक विचारों को एकत्व में समाहित करने का कार्य करते हैं और इस प्रकार अनेक संभव संज्ञान उसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार बोध-संस्थान, चिन्तन अथवा निर्णय-संस्थान कहा जा सकता है। संप्रत्ययों द्वारा संज्ञान ही चिन्तन है (बी 93)। संभव निर्णयों के विधेयों के रूप में संप्रत्यय किसी अनिर्णीत विषय से सम्बन्धित होते हैं।

कान्ट का मानना था कि संप्रत्यय अथवा निर्णयाकार (जजमेन्ट) अपने शुद्ध एवं अमिश्र रूप में बोध-संस्थान से उत्पन्न होते हैं। इन निर्णयाकारों का परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए। प्रत्येक का अपना सुनिश्चित स्थान होना चाहिए तथा अपनी समग्रता में वे पूर्णतया परिगणित होने चाहिएं। यदि ऐसा नहीं हो तो वे यादृच्छिक होंगे और उनमें अपेक्षित अनिवार्यता नहीं होगी। चिन्तन के इन प्रकार्यों को कान्ट बिना भूमिका के एक सारणी के रूप में प्रस्तुत कर डालते हैं, जो चार (क्वान्टिटि-परिमाण, क्वालिटी-गुण, रिलेशन-सम्बन्ध, मोडलिटि-निश्चयमात्रा) वर्गों में विभक्त होती हैं। प्रत्येक वर्ग में तीन-तीन निर्णयाकार आते हैं। जिन निर्णयाकारों का कान्ट ने उल्लेख किया है उनमें से दस ऐरिस्टॉटिल से प्राप्त थे तथा दो कान्ट की अपनी देन।

जिस प्रकार कान्ट ने प्रत्येक वर्ग में आने वाले निर्णयाकारों के परस्पर सम्बन्ध को बताया है, उसके कारण कुल बारह निर्णयाकारों का होना आवश्यक था। प्रत्येक वर्ग में एक तीसरे निर्णयाकार का हाना आवश्यक था क्योंकि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी वह प्रथम दो को अपने में समाहित करता था। रिलेशन तथा मोडेलिटि के वर्गों में तो पहले से उपलब्ध तीन निर्णयाकार प्राप्त थे, क्वान्टिटि तथा क्वालिटि के वर्गों में से प्रत्येक में एक तीसरे निणर्याकार की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के रूप में कान्ट ने क्वाटिन्टि के वर्ग में एकल (सिंगुलर) तथा क्वालिटि के वर्ग में अपरिमित (इन्फ़िनिट) को तीसरे निर्णयाकार के रूप में जोड़ा, तथा यह दिखलाने का प्रयास किया कि कैसे पहले दो निर्णयाकार इन में समाहित होते हैं।

निर्णयाकारों की इस व्यवस्था को कान्ट ने पूर्ण और अनिवार्यता से युक्त माना और इसी प्रारूप के आधार पर कोटियों के तन्त्र की कल्पना प्रस्तुत की। कान्ट का कहना था कि चिन्तन के प्रकार्य वैभिन्न्य को एकत्व प्रदान करते हैं। बोध-संस्थान के यही प्रकार्य इन्ट्यूशन में प्राप्त विविध प्रस्तुतियों के संश्लेषण को एकत्व प्रदान करते हैं। कान्ट के शब्दों में, वही बोध-संस्थान, उन्हीं प्रकार्यों के आधार पर जिनसे "वह आकारगत एकत्व से निर्णयाकारों को संप्रत्यय में उत्पन्न करता है, इन्ट्यूशन के वैविध्य को संश्लेषणात्मक एकत्व के द्वारा अतिक्रामी अन्त:वस्तु को अपनी प्रस्तुतियों में उत्पन्न करता है।" इस प्रकार बोध-संस्थान में उतने ही शुद्ध संप्रत्यय (कोटियाँ) होते हैं जितने कि तार्किक निर्णयों के प्रकार्य अथवा आकार। बोध-संस्थान की क्षमता इन संप्रत्ययों में पूर्णतया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परिगणित हो जाती है। ऐरिस्टॉटिल का अनुसरण करते हुए, इन प्रत्ययों को कान्ट ने कोटियों (कैटेगरीज़) की संज्ञा दी।'' क्रिटीक, बी 105-6, ए 79-80.

जिन परिच्छेदों में उपर्युक्त विचार उल्लिखित हैं उनका शीर्षक है, 'बोध-संस्थान के शुद्ध संप्रत्ययों के उद्घाटन (डिस्कवरी) के संकेत (क्लू) पर'। 'क्लू' शब्द के प्रयोग से लगता है कि निर्णयाकारों की व्यवस्था तथा कोटियों के तन्त्र के बीच कोई निगमनात्मक सम्बन्ध नहीं है। परन्तु कोटियों की व्यवस्था को संयोजित करने में निर्णयाकारों की व्यवस्था की जो छाया है उससे इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच सम्बन्ध मात्र संयोग भी नहीं लगता। शायद इसी कारण दयाकृष्ण अपने हाल के लेख में 'डिराइव' शब्द का प्रयोग करते हैं।[1]

चिन्तन की स्वत:स्फूर्त प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि प्रागनुभविक संवेद्य प्रदत्त को, जो प्रदत्त दिक्-काल में होता है, किसी रूप में विन्यस्त किया जाय। इसीसे संज्ञान संभव होता है। विन्यास की इस प्रक्रिया को कान्ट 'संश्लेषण' (सिन्थेसिस) कहते हैं।

यदि संश्लेषण की सामग्री केवल दिक्-काल के रूप में प्रदत्त होती है, तब उसे शुद्ध कहा जाता है। आपातत: सामग्री अस्पष्ट और अनगढ़ होती है, संश्लेषण के पश्चात् ही वह संज्ञान का रूप लेती है। यह संज्ञान शुद्ध संप्रत्ययों के रूप में होता है तथा ये संप्रत्यय, जिन्हें कोटियाँ भी कहा गया है, उतने ही हैं जितने निर्णयाकार तथा उनके तार्किक कार्य।

जहाँ तक तर्कशास्त्र के निर्णयाकारों का प्रश्न है, सामान्यतया वे अपने में कथनों की उन सभी संभावनाओं को समाहित करते लगते हैं जो वर्णनपरक होते हैं, अथवा सत्यासत्य हो सकते हैं। कोटियों से जो काम कान्ट ने लेना चाहा है उसका सन्दर्भ तार्किक कथन का न होकर ज्ञान का है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे परस्पर असम्बद्ध हैं।

ज्ञान वह है जो वस्तु-प्रापक हो, जो सार्थक हो, सत्य हो, सार्वत्रिक तथा निश्चयात्मक हो, जिसमें ज्ञाता तथा ज्ञेय का सम्पर्क हो। ह्यूम ने इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति पर संशय किया था। कान्ट इस संशय के निराकरण का प्रयास करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा ज्ञान तो होता है, प्रश्न यह है कि उसकी संभावना का आधार क्या है।

1'' कान्ट्स डाक्ट्रिन ऑव कैटेगरीज़', जर्नल ऑव इन्डियन काउन्सिल ऑव फ़िलसौफ़िकल रिसर्च, खण्ड 18 संख्या 4, पृ. 2

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहा जा सकता है कि ज्ञान का सन्दर्भ तर्कशास्त्र से अधिक मूलगामी है। तब कान्ट ने कोटियों की अवधारणा के लिए तर्कशास्त्र को स्रोत क्यों माना? कदाचित् उसका एक कारण यह रहा हो कि प्रत्येक तार्किक कथन में विधेय तथा उद्देश्य का सम्बन्ध अभिव्यक्त होता है। (आधुनिक तर्क की अवधारणा में तो उद्देश्य से पूर्ण मुक्ति पाने का प्रयास हुआ है। उसके फलस्वरूप तार्किक कथन विधेयों के सम्बन्ध तक सीमित हो गया।) अन्य शब्दों में बहुत्व को एकत्व में अभिव्यक्त करना ही तार्किक कथन का मुख्य कार्य हुआ। दूसरी बात यह है कि निर्णयाकार उन अनेक संभव रूपों को अभिव्यक्त करते हैं जिनमें एकत्व की अभिव्यक्ति संभव होती है।

इस प्रकार बहुत्व का एकत्व में समावेश तथा इस समष्ट्यात्मक एकत्व के विविध रूपों की खोज सहज ही कान्ट को तर्कशास्त्र की ओर ले जाती है। परन्तु ठीक उन्हीं रूपों के समकक्ष कोटियों का निर्धारण समस्यामूलक सिद्ध हुआ। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि कान्ट के ध्यान में 'ज्ञान' को लेकर एक स्वतन्त्र तन्त्र था। इस बात की पुष्टि के लिए उस भेद की ओर संकेत किया जा सकता है जो कान्ट ने सामान्य तर्कशास्त्र तथा ट्रान्सेन्डेन्टल तर्कशास्त्र के बीच किया। यह भी स्मरणीय है कि उपलब्ध निर्णयाकारों में कान्ट ने दो और आकार जोड़े और इसका आधार ज्ञान पक्ष ही था।

प्रथम, प्रमाण के वर्ग को लें। इसके अन्तर्गत जो तीन प्रकार के निर्णयाकार लिए गये हैं वे हैं : सामान्य, विशेष तथा एकत्व। इनमें 'एकत्व' को कान्ट ने जोड़ा। उनका कहना है, यद्यपि सामान्य तर्कशास्त्र में एकत्व को सामान्य में ही समाहित कर लिया जाता है तथापि संज्ञान की दृष्टि से 'एकत्व' को अन्य दो से अलग रखना चाहिए। इसी प्रकार गुण विभाग (क्वालिटी) में स्वीकारात्मक तथा निषेधात्मक के अतिरिक्त, कान्ट अपरिमित को जोड़ते हैं। कान्ट की ट्रान्सेन्डेन्टल लौजिक में जब किसी विषय से सम्बन्धित कोई बात कही जाती है तब निहित रूप में उन सभी अन्य संभव विषयों की ओर इशारा होता है जिनके विषय में उक्त बात नहीं कही जा सकती। ये संभव विषय अनन्त, अपरिमित होते हैं। संज्ञान की अन्तर्वस्तु की दृष्टि से यह अपरिमित स्वीकारोक्ति विषय के सन्दर्भ में कही बात की सीमा को प्रदर्शित करती है। कोटियों की योजना में, गुण विभाग के अन्तर्गत अपरिमित निर्णयाकार के समकक्ष वास्तविकता तथा निषेध के बाद 'परिसीमन' (लिमिट) को स्थान दिया गया।

परिमाण तथा गुण विभागों के अन्तर्गत परिगणित कोटियों को कान्ट ने गणितात्मक कहा। गणितात्मक से कान्ट का क्या आशय है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए दिक्-काल की कुछ बात जरूरी है। 'ऐस्थेटिक' में दिक्-काल को उन आकारों के स्रोत के रूप में लिया गया है जो किसी भी ज्ञान की संभावना को निर्धारित करने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वाली अवस्थाओं की भूमिका निभाते हैं। दिक्-काल ऐसी अवस्थाओं की ओर संकेत करते हैं जिनके खण्ड एक रूप होते हैं। दिक्-काल के संज्ञान में इन्हीं खण्डों की क्रमिक प्रस्तुति कल्पना के माध्यम से एक अखण्ड कुल के रूप में गृहीत होती है। इसके साथ ही कान्ट यह कहते हैं कि यह परिमाणात्मक पक्ष ही उस संज्ञान के उस रूप को संभव बनाता है जिसमें विषय के घटक दिक्-काल के घटकों की तरह एक रूप न होकर अनेक रूप होते हैं।

गणितात्मक कोटियों में कान्ट गुण विभाग को भी शामिल करते हैं। प्रथम दृष्ट्या यह बात कुछ अजीब लगती है। इस विभाग में, जैसा पहले उल्लेख हुआ है, वास्तविकता, निषेध तथा परिसीमन की कोटियाँ आती हैं। वास्तविकता वह कोटि है जिससे काल में किसी विषय के होने का संकेत प्राप्त होता है। निषेध वह कोटि है जो काल में विषय के नहीं होने का निर्देश करती है। विषय से आशय है वह जो संवेदन द्वारा ग्राह्य होता है। संवेदन, साधारण रूप में, होने-नहीं होने का पता देता है। परन्तु संवेदन की तीव्रता की दृष्टि से, उसमें न्यूनाधिक्य की मात्रा भी होती है जो यदि एक छोर पर पूर्ण का निर्देश करती है, तो दूसरे छोर पर शून्य का। इस मात्राक्रम के कारण गुण-विभाग का सम्बन्ध गहन परिमाण (इन्टेन्सिव मैग्निट्यूड) से जोड़ा गया है और इस प्रकार क्वान्टिटि (परिमाण) तथा क्वालिटी (गुण) विभागों में आने वाली कोटियों को ऐक्स्टैन्सिव एवं इन्टेसिव मैग्निट्यूड के कारण कान्ट ने गणितात्मक कहा।

यह विचित्र बात है कि कान्ट ने परिमाण के अतिरिक्त 'सम्बन्ध' को गणितात्मक कोटियों में शामिल नहीं किया। गणित में जितना महत्त्व परिमाण का है उतना ही सम्बन्ध का। ऐसा तो नहीं कि कान्ट के ध्यान में गणित में 'सम्बन्ध' की भूमिका नहीं रही हो। गणित के सम्बन्ध में वे जब प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णयों का उल्लेख करते हैं तब वहाँ 'सम्बन्ध' की बात स्पष्ट है। परन्तु उनके ध्यान में जो विशिष्ट बात थी वह ज्ञान से सम्बन्धित थी। उदाहरणार्थ 12 संख्या के बोध में 7+5 का ही बोध हो ऐसा नितान्त आवश्यक नहीं है और इसी कारण, कान्ट के अनुसार, 7+5=12 एक प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक वाक्य है।

सम्बन्ध को लेकर कान्ट जिस वर्ग की कल्पना प्रस्तुत करते हैं वह संख्याओं से सम्बन्धित न होकर आनुभविक विशषों तथा घटनाओं से सम्बन्धित है। यह ध्यातव्य है कि दिक्-काल की पूर्वापेक्षा के कारण गणितात्मक कोटियाँ 'सम्बन्ध' तथा 'निश्चय मात्रा' की कोटियों में भी पूर्वापेक्षित हैं। यद्यपि कान्ट ने स्वयं ऐसा उल्लेख नहीं किया है।

उपर्युक्त वर्णन से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के संभव उत्तर पर भी प्रकाश पड़ता है कि कोटियों का प्रयोग युगपत् होता है, अथवा नहीं। यदि युगपत् होता है तो कैसे?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यदि यह तथ्य ध्यान में लें कि कान्ट के अनुसार एकत्व-बहुत्व-समग्रता प्रत्येक संज्ञान में अन्तर्हित हैं तब परिमाण-विभाग की कोटियाँ युगपत् रूप में प्रयुक्त होती हैं। गुण-विभाग की कोटियाँ युगपत् रूप में प्रयुक्त हो सकती हैं, यह आपातत: तो ठीक नहीं लगता। कोई विषय है, अथवा नहीं है इसमें एक ही बात ठीक हो सकती है। परन्तु परिसीमन में किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ कहना उसे अन्यों से अलग करना है। इस अवस्था में स्वीकारोक्ति में निषेध भी सन्निहित होता है और इस अर्थ में इन कोटियों का युगपत् प्रयोग संभव है। परन्तु तीव्रता के क्रम की दृष्टि से युगपत् प्रयोग का निष्कर्ष प्राप्त नहीं होता।

इन्टेन्सिव मैग्निट्यूड की बात करते हुए वास्तविकता तथा निषेध को संवेदन की तीव्रता की मात्रा से सम्बन्धित बताया जाता है, तब ये दोनों बातें कहना विचित्र होगा कि अमुक विषय इस मात्रा में है तथा इस मात्रा में नहीं है।

आगे जब कान्ट कोटियों के प्रयोग के रूप में सिद्धान्तों (प्रिन्सिपिल्स) की चर्चा करते हैं तब एक्स्टैन्सिव मैग्निट्यूड तथा इन्टेन्सिव मैग्निट्यूड दोनों के ही सन्दर्भ में सभी प्रतीतियों पर ये कोटियाँ प्रयुक्त होती हैं। वहाँ इस बात का उल्लेख नहीं है कि विशिष्ट सन्दर्भ में कोई एक ही कोटि प्रयुक्त होती है।

इस सन्दर्भ में एक और तथ्य ध्यातव्य है। कान्ट का मानना है कि प्रत्येक वर्ग में तीसरी कोटि पहली दो कोटियों का युग्म है। तब क्या यह नहीं कहा जा सकता कि तीसरी कोटि के प्रयोग में पहली दो कोटियों का प्रयोग स्वत: ही हो जाता है? शायद नहीं। क्योंकि कान्ट कहते हैं कि यद्यपि तीसरी कोटि पहली दो कोटियों का युग्म है, फिर भी वह उनसे निस्सरित नहीं है। वह उतनी ही मूल है जितनी प्रथम दो कोटियाँ। तीसरी कोटि को प्रथम दो से इस कारण निस्सरित नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रथम दो कोटियों के युग्म के रूप में तीसरी कोटि को ध्यान में लाने पर 'बोध के एक विशिष्ट प्रयास (ऐक्ट) की आवश्यकता होती है,' जो उस प्रयास से एकात्म नहीं है जो पहली दो कोटियों को ध्यान में लाने में आवश्यक होता है (बी 110)। उदाहरणार्थ 'संख्या' का संप्रत्यय हर उस अवस्था में संभव नहीं होता जहाँ बहुत्व एवं एकत्व विद्यमान होते हैं, जैसे 'परिमित' के संप्रत्यय में। यदि भिन्न कोटियों के प्रयोग में बोध के भिन्न प्रयास सन्निविष्ट होते हैं तब उनका युगपत् प्रयोग कैसे संभव होगा?

जैसा पहले कहा गया है, निर्णयाकारों की व्यवस्था के समकक्ष कोटियों की व्यवस्था की अवधारणा बोध अथवा ज्ञान की व्यवस्था से टकराती है। दोनों को अलग रखने का प्रयास करने पर भी कान्ट सामान्य तर्कशास्त्र की छाया से कोटियों के संयोजन को नहीं बचा सके हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्बन्ध तथा निश्चयमात्रा (मोडेलिटि) में परिगणित कोटियों को कान्ट ने गत्यात्मक कहा है। परन्तु इस विभाजन में भी कान्ट निश्चयमात्रा की कोटियों को शेष तीन वर्गों से अलग बताते हैं (बी 100)। वे कहते हैं कि इन कोटियों का एक विशिष्ट पक्ष इन्हें शेष से अलग करता है। परिमाण, गुण तथा सम्बन्ध की कोटियों की भाँति वे निर्णय की विषयवस्तु में कोई वृद्धि नहीं करतीं (बी 99, 100)। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि संश्लेषण की प्रक्रिया तथा विषयवस्तु में वृद्धि निकटवर्ती स्थितियाँ हैं।) निश्चयमात्रा का सम्बन्ध सामान्य चिन्तन तथा निर्णय में संयोजक पद से होता है।

निर्णयाकारों में निश्चयमात्रा के अन्तर्गत सर्वप्रथम समस्यामूलक (प्रॉब्लेमेटिक) निर्णयों को लिया गया है। समस्यामूलक के समकक्ष कोटियों में संभव-असंभव के द्वय को रखा गया है। निर्णयाकारों में स्वीकारात्मक निर्णयों के कथ्य का निर्देश वास्तविकता की ओर होता है तथा सुनिश्चित निर्णयों में कथ्य अनिवार्यतया सत्य (एपोडिक्टिक) होता है। कोटियों में इन निर्णयाकारों के समकक्ष अस्तित्व-अनस्तित्व तथा अनिवार्य-आपातिक को लिया गया है। अब यदि पहली कोटि (द्वय) में संभव-असंभव को ले लिया गया है तब तीसरी कोटि में आपातिक एक अनावश्यक पुनरावृत्ति है। असंभव में कोई आपातिकता नहीं होती, उसमें निषेधात्मक रूप में अनिवार्यता होती है। अत: अनिवार्यता को अलग से गिनना आवश्यक नहीं लगता। इस प्रकार निश्चयमात्रा के अन्तर्गत प्रथम तथा तृतीय को पुन: संयोजित करने तथा उनमें से कुछ के निराकरण की आवश्यकता है। अब, क्योंकि कान्ट निर्णय-विभाजन के अनुरूप ही कोटि-विभाजन भी करते हैं, तो वे प्रत्येक वर्ग में तीन कोटियाँ रखना आवश्यक समझते हैं। दूसरे, गत्यात्मक कोटियों में प्रत्येक कोटि को एक युग्म के रूप में लिया गया है तो निश्चयमात्रा में भी कोटियों को युग्मों के रूप में व्यवस्थित किया गया है। फिर जब कान्ट यह मानते हैं कि निश्चयमात्रा की कोटियाँ शेष तीन वर्गों से भिन्न हैं, तब उन्हें उनको अन्य वर्गों के साथ रखना ही नहीं चाहिए था। तब मूल कोटियाँ वस्तुत: बारह न होकर नौ ही रहतीं।

अब एक दृष्टिपात 'सम्बन्ध' के अन्तर्गत आने वाली कोटियों पर भी। 'सम्बन्ध' के अन्तर्गत जिन कोटियों को लिया गया है वे हैं—द्रव्य तथा गुण, कारण तथा कार्य एवं समुदाय (जिसके अन्तर्गत 'कर्त्ता' तथा 'प्रभावित' के परस्पर आदान-प्रदान को लिया गया है)। इन कोटियों की विशेषता यह है कि अपनी भूमिका के लिए अथवा अर्थ के लिए वे एक दूसरे पर आश्रित हैं।

किसी भी वस्तु के बोध की बात हो, उसके सन्दर्भ में उसका आत्मतादात्म्य उसके गुण-धर्म, वह किससे उत्पन्न है और किसे उत्पन्न करती हैं तथा उसके तथा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अन्य के प्रति क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, इन बातों का बोध तो आवश्यक होता ही है, परन्तु बोध के वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्रत्येक कोटि-युग्म में से किसी एक कोटि का ही प्रयोग होता है। यह अलग बात है कि उसके प्रयोग में उसकी सहवर्ती कोटि निहित रूप में उपस्थित रहती है। उदाहरणार्थ किसी विषय को किसी अन्य विषय के कारण के रूप में ग्रहण करना, यह निहितार्थ भी रहता है, कि वह विषय किसी अन्य विषय का कार्य है।

कोटियों के इस वर्ग के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठता है कि कारण-कार्य के युग्म के अतिरिक्त तीसरे स्थान पर समुदाय (कम्युनिटी) की कोटि को लेने का क्या औचित्य है? कान्ट 'समुदाय' की कोटि को वैकल्पिक निर्णयाकार के समकक्ष रहते हैं। वैकल्पिक संयोजक—'अथवा'—एक या एक से अधिक अनेक विकल्पों को साथ रखने में योग देता है। इन विकल्पों में सम्बन्ध किसी एक दिशा में न होकर परस्पर होता है (बी 99)। कोटि के सन्दर्भ में कान्ट मानते हैं कि ये विकल्प किसी कुल के अंग या सदस्य के समान होते हैं। कुल की इस धारणा की अभिव्यक्ति के लिए 'समुदाय' शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु वैकल्पिक निर्णयाकार तथा समुदाय की कोटि में एक ऐसा अन्तर है जिसके कारण उसे वैकल्पिक निर्णयाकार के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। वैकल्पिक निर्णयाकार में विकल्पों का सम्बन्ध निषेधात्मक होता है। एक विकल्प का निषेध दूसरे के स्वीकार को अभिव्यक्त करता है। कुल के सदस्यों या अंगों के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं होता। यदि यह न मानें तब कुल के अंगों में पारस्परिकता का सम्बन्ध, विशेषकर कर्त्ता तथा प्रभावित के रूप में, कैसे संभव होगा? इस कोटि के प्रयोग के रूप में तीसरी उपमा (एनालॉजि) में कान्ट बताते हैं कि सभी द्रव्य जिस सीमा में समवर्ती होते हैं, अथवा दिक् में समवर्ती देखे जाते हैं वे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं तथा एक पूर्ण समुदाय बनाते हैं। स्पष्ट है कि यह वर्णन वैकल्पिक निर्णयाकार के समकक्ष नहीं ठहरता। कदाचित् इसका एक कारण यह रहा हो कि वैकल्पिक संयोजक प्रत्येक सदस्य के वैशिष्ट्य को व्यक्त करता है तथा उस दृष्टि से सभी विकल्पों को एक स्तर पर रखता है। परन्तु क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध वैकल्पिक सम्बन्ध में समाहित नहीं किया जा सकता।

द्रव्य तथा गुण की कोटि को निरपेक्ष निर्णयाकार तथा कारण-कार्य की कोटि को सोपाधिक निर्णयाकार के समकक्ष रखा गया है। यदि यह कहा जाय कि कारण-कार्य की कोटि 'क्रिटीक' का एक केन्द्रीय बिन्दु है, जिसके निमित्त 'क्रिटिक' का तन्त्र बुना गया है, तो बहुत ग़लत नहीं होगा। क्रिटीक की एक प्रमुख स्थापना है कि ऐन्द्रिक अनुभव की संभावना में बुद्धि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कारण-कार्य की कोटि पर कान्ट के विचारों से इस बात की पुष्टि स्पष्ट रूप में होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दूसरी उपमा में इस कोटि के प्रयोग के दृष्टान्त द्वारा यह स्पष्ट होता है कि कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीतियाँ ऐसा क्रम लिए होती हैं जो अपरिवर्तनीय होता है। इसके विपरीत कुछ घटनाएँ या स्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीतियों में प्रत्यक्ष की दृष्टि से कोई भी क्रम संभव होता है। प्रदत्त सामग्री का प्रत्यक्ष सदैव किसी क्रम में होता है। इस क्रम में एक के बाद दूसरी प्रतीति का प्रत्यक्ष होता है। यदि हम किसी स्थिर विषय का प्रत्यक्ष करते हैं तथा किसी गतिमान विषय या घटना का प्रत्यक्ष करते हैं, तब इन दोनों में हम एक महत्त्वपूर्ण अन्तर पाते हैं। उदाहरणार्थ जब हम किसी भवन का प्रत्यक्ष करते हैं तब हमारे प्रत्यक्षों का क्रम कुछ भी हो सकता है। हम भवन दायें से बायें और पुनः बायें से दायें देख सकते हैं। परन्तु, इसके विपरीत, हम किसी नदी में किसी नाव को जाते हुए देखते हैं तब यह संभव नहीं है कि हम चलती नाव की गति-दिशा को किसी वैकल्पिक रूप में प्रत्यक्ष कर सकें। पहले क्रम में कोई निश्चित क्रम या व्यवस्था परिलक्षित नहीं होती। दूसरे क्रम में एक अपरिवर्तनीय निश्चित व्यवस्था होती है। कान्ट का मानना है कि इस दूसरे क्रम में कोई नियम सक्रिय है और इसलिए किसी एक प्रत्यक्ष के बाद किसी अन्य प्रत्यक्ष का आना अनिवार्य है। किसी घटना को घटना के रूप में प्रत्यक्ष करना किसी एक प्रत्यक्ष के बाद किसी अन्य विषय का प्रत्यक्ष करना जो अनिवार्यतया अपने पूर्व विषय के बाद आता है और इसलिए वह किसी नियम के कारण ही अपने पूर्व विषय से सम्बन्ध रखता है, यह नियम बोध-संस्थान से प्राप्त होता है तथा इसे ही कारण-कार्य का सिद्धान्त कहा गया है।

'किसी एक चीज़ के होने पर दूसरी चीज़ होती है' अथवा 'किसी के होने पर उसके पूर्व कुछ था या हुआ था जिसके पंश्चात् वह उत्पन्न हुआ' ये बातें किसी ऐसे क्रम की ओर तो इंगित करती हैं जिसे बदला नहीं जा सकता, परन्तु इस क्रम के पूर्वापर विषयों में कारण-कार्य का सम्बन्ध है, यह निस्सरित नहीं होता।

कान्ट का दावा है कि कुछ प्रतीतियाँ ऐसी होती हैं जिनका क्रम हमारी कल्पना से स्वतन्त्र होता है तथा बाद में आने वाली प्रतीति को पहले प्रत्यक्ष कर लिया जाय तथा पहले आने वाली को बाद में यह संभव नहीं होता। परन्तु केवल पूर्वापर का सम्बन्ध कारण-कार्य के नियम को निश्चित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। उसके साथ यह जानना भी आवश्यक होता है कि किसी घटना के घटने के पूर्व में घटने वाली अनेक घटनाओं में किस घटना से वांछित घटना का सम्बन्ध है। कान्ट की कोटि तथा उसके प्रयोग की व्याख्या से इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता।

कारण-कार्य की कोटि को सोपाधिक निर्णयाकार के समकक्ष रखा गया है। घटना की दृष्टि से सोपाधिक निर्णय निरपेक्ष निर्णयों की तरह किसी अनिवार्यता को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभिव्यक्त नहीं करते। अनिवार्यता का सम्बन्ध दो घटनाओं के बीच के सम्बन्ध से हो सकता है, अथवा उनके किसी क्रम में घटने से हो सकता है। घटनाओं का सम्बन्ध जो अनिवार्यता लिए होता है, वह घटना के घटने पर निर्भर है और इसी तथ्य को सोपाधिक निर्णय अभिव्यक्ति देता है (बी 98)। परन्तु घटना क्रम की दिशा में जो अनिवार्यता होती है वह निरपेक्ष निर्णय द्वारा ही अभिव्यक्त की जा सकती है। इस से यह तो लगता है कि कान्ट का कारण-कार्य नियम सोपाधिक निर्णय के द्वारा अभिव्यक्त होता है, परन्तु उसका जो दृष्टान्त कान्ट प्रस्तुत करते हैं वह वस्तुत: निरपेक्ष निर्णय द्वारा ही अभिव्यक्त होगा। इस दृष्टि से कारण-कार्य की कोटि सोपाधिक निर्णयाकार के समकक्ष ठीक नहीं बैठती।

सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाली प्रथम कोटि द्रव्य-गुण की है। प्रथम उपमा (अनालोजि) में उसके प्रयोग के विषय में बताते हुए उपमा को इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि सभी प्रतीतियों में द्रव्य बना रहता है, उसका परिमाण न बढ़ता है और न घटता है। **क्रिटीक** के प्रथम संस्करण में उपमा को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उसमें गुण की ओर भी संकेत होता है। यथा, सभी प्रतीतियों में कुछ ऐसा होता है जो विषय के रूप में बना रहता है और कुछ ऐसा होता है जो बदल सकता है, जो विषय की कोई विशेषता होती है अथवा वह अवस्था होती है जिसमें विषय विद्यमान होता है।

प्रदत्त की प्रतीतियों का प्रत्यक्ष सदैव एक क्रम में होता है। यदि इन आनुभविक प्रतीतियों तक ही सीमित रहें तब न तो हमें उनके बीच किसी सम्बन्ध का और न ही किसी द्रव्य का बोध होगा। इसके अतिरिक्त, बिना किसी स्थायित्व के किसी कायिक सम्बन्ध का बोध नहीं हो सकता। स्वयं काल का तो प्रत्यक्ष होता नहीं। फिर, प्रतीतियों में किसी स्थायी वस्तु का बोध सभी काल-निर्धारकों का अधिष्ठान होता है। ऐसा बोध प्रत्यक्षीकरणों की संश्लेषणात्मक इकाई की भी पूर्वापेक्षा है। समस्त परिवर्तन उन अवस्थाओं का सूचक है जो स्थायी वस्तु के अस्तित्व की होती हैं। ये अवस्थाएँ आती जाती हैं, परन्तु इनमें कोई अवस्था स्वयं परिवर्तित नहीं होती। यहाँ ऐरिस्टॉटिल का प्रभाव स्पष्ट है। एरिस्टॉटिल ने फोर्म्स के अनुक्रम को स्वीकार करते समय उन में किसी फोर्म के परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया। इन अवस्थाओं के द्रव्य से सम्बन्धित होने के कारण कान्ट इस कोटि को 'सम्बन्ध' के अन्तर्गत रखते हैं। (बी 230)

निर्णयाकारों की दृष्टि से द्रव्य-गुण की कोटि निरुपाधिक या निरपेक्ष निर्णयाकार के समकक्ष है। निरुपाधिक निर्णय में कोई विधेय एक ही प्रकार के समस्त विषयों से सम्बन्धित होता है। उदाहरणार्थ सभी 'क ख हैं' तथा 'क एवं ख का यह सम्बन्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनिवार्य है।' द्रव्य-गुण की कोटि में ऐसे निरुपाधिक सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं मिलता। वस्तुत: गुण रूपी अवस्थाओं को द्रव्य की ऐसी विशेषता के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका द्रव्य के साथ सम्बन्ध आकस्मिक है। गुण के लिए कान्ट का शब्द 'ऐक्सीडेन्ट' है, जिसका इस ओर स्पष्ट संकेत है।

कान्ट की ज्ञान मीमांसा में इस कोटि का विशिष्ट महत्त्व इसलिए है कि इसकी व्याख्या में यह स्वीकार किया गया है कि बिना किसी स्थायी सिद्धान्त के प्रयोग के प्रदत्तों की प्रतीतियों का क्रम ज्ञान के रूप में परिवर्तित नहीं होता।

कोटियों के विषय में यह विवेचन एक ओर तो यह स्पष्ट करता है कि कान्ट ने उनकी जो संख्या मानी है, वह ठीक नहीं बैठती। बहुत्व को एकत्व में आबद्ध करने के अपरिमित रूप संभव हैं। तब इनकी संख्या निश्चित होगी, यह मानने का कोई कारण नहीं दीखता। इतना तो अवश्य है कि बहुत्व का एकत्व में आबद्ध होना किसी स्थिर एकात्मक तथा नियत सिद्धान्त की अपेक्षा रखता है और इसमें काल के संप्रत्यय की अनिवार्य भूमिका है।

कान्ट का सोच था कि शुद्ध बुद्धि उन सब सिद्धान्तों का स्रोत है जो ज्ञान की संभावना का आधार हैं तथा वे परस्पर सम्बद्ध होती हैं। उनका आपसी सम्बन्ध वस्तुत: एक तन्त्र का रूप रखता है (बी 89)। तन्त्र के रूप में एक पूर्णता होती है और इस पूर्णता से कोटियों की संख्या भी सुनिश्चित हो जाती है। कान्ट को लगा कि सामान्य आकारिक तर्कशास्त्र से हमें वह सूझ मिल जाती है जो ज्ञानात्मक सन्दर्भ में बुद्धि के तन्त्र के रूप के अन्वेषण में मदद कर सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कोटियों के तन्त्र की कान्ट की खोज बुद्धि के स्वरूप को अनावश्यक रूप से परिसीमित तथा कुण्ठित कर देती है। परिसीमन का प्रयास, अनेक पक्षों से कोटियों के स्वरूप को एक रूप देने में असफल रहता है। गणितात्मक तथा गत्यात्मक का भेद, तीसरी कोटि में प्रथम दो को समाहित करने की चेष्टा, निश्चय मात्रा की कोटियों को अन्य कोटियों से अलग बताना तथा कुछ कोटियों का युग्म रूप होना, कोटियों की एकरूपता के विचार के साथ संगत नहीं है। विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि सामान्य तर्कशास्त्र से प्राप्त सूझ केवल इतनी ही मदद करती है कि हमें संश्लेषण के स्वरूप का कुछ पता चलता है। परन्तु निर्णयाकारों के समकक्ष कोटियों की संकल्पना उपयुक्त सिद्ध नहीं होती।

एक और गंभीर कठिनाई है। कोटियाँ हमें प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णय प्रदान करती हैं। अन्य शब्दों में, ज्ञान में अनिवार्यता का जो तत्त्व कान्ट ने माना है वह उनके मत के अनुसार प्रागनुभविक कोटियों द्वारा प्राप्त होता है। कान्ट ज्ञान के जिस स्वरूप की बात करते हैं वह किसी विषय अथवा सामान्य रूप में विषय से सम्बन्धित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। ऐसे ज्ञान को अनिवार्य कहने का क्या अर्थ हो सकता है? दूसरे, जहाँ तक विशिष्ट विषयों के ज्ञान का प्रश्न है, उन पर यदि कान्ट की व्याख्या प्रयुक्त होती है तब उनका ज्ञान अनिवार्यता से युक्त होगा। अन्य शब्दों में आपातिक ज्ञान कान्ट की व्यवस्था में असंभव होगा। कान्ट की व्यवस्था के अनुसार यदि ज्ञान है तो वह अनिवार्यता से युक्त है। स्पष्ट है कि ज्ञान के आदर्श में अनिवार्यता को समाविष्ट मानने पर भी, उपलब्ध ज्ञान सामान्यतया परिष्कार्य तथा परिवर्तनीय होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कान्ट की ज्ञान की अवधारणा में सामान्यतया तत्कालीन वैज्ञानिक ज्ञान का समावेश था। युक्लिड के रेखागणित तथा न्यूटन की भौतिकी ने तत्कालीन ज्ञान में जिस विश्वास को उत्पन्न किया था वह अब उसी मात्रा में उपलब्ध नहीं होता ऐसा दयाकृष्ण भी मानते हैं। वस्तुतः आन्तरिक आलोचना, निरन्तर शोधन तथा परिष्कार वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप में आज अन्तरंग रूप में स्वीकार किये जाने लगे हैं।

10/558 कावेरी पथ,
मानसरोवर, जयपुर 302020

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्री यशदेव शल्य के दर्शन का वैशिष्ट्य[1]

अम्बिकादत्त शर्मा

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन में राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से जो सृजनात्मक दार्शनिक चिन्तन हुआ है आचार्य यशदेव शल्य उसके शलाका पुरुष हैं। उनके सम्पूर्ण जीवन को आत्मान्वेषी दार्शनिक चिन्तन का कृत्यानुष्ठान कहा जा सकता है। मूल्यात्मक अन्तर्दृष्टि एवं गम्भीर तर्कणा शक्ति का अद्‌भुत संयोजन इनके चिन्तन में देखने को मिलता है। इनकी मर्मस्पर्शी मेधा किसी विचार के गूढ़ार्थ को उसके नेपथ्य में जा कर उद्‌घाटित कर देती है।

लगभग 1950 से अद्यतन आचार्य शल्य के निर्बाध और अविचल चिन्तन ने अपने आप में एक सम्पूर्ण तन्त्र का रूप ले लिया है। उनका चिन्तन सर्वथा मौलिक है। यद्यपि वे एक प्रकार से अद्वैत वेदान्त परंपरा में आते हैं किन्तु यह परंपरा उनके चिन्तन में आधारभूत रूप में नवीकृत मिलती है। उनकी दार्शनिक अनुसन्धान-यात्रा का आरंभ आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी-तार्किक प्रत्यक्षवादी (लॉजीकल पॉज़िटिविस्ट) परंपरा के अन्तर्गत चिन्तन के साथ हुआ और उन्होंने इसमें **दार्शनिक विश्लेषण** (1961) पुस्तक लिखी। किन्तु उन्हें अनुभववादियों की अनुभव की अवधारणा में कोई युक्तियुक्तता दिखाई नहीं दी। इसके अनन्तर वे इस विचार-परंपरा को छोड़कर अवधारणात्मक सापेक्षतावाद की ओर आये जिसका प्रतिपादन उन्होंने **ज्ञान और सत्** (1967) पुस्तक में किया। परन्तु यह दृष्टि भी उनके लिए अधिक समय तक सन्तोषप्रद नहीं बनी रह सकी। उनके ही शब्दों में "बाह्य विषय के सम्बन्ध में अवधारणा-सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरह चल सकती है, किन्तु कर्त्तव्य, आत्मा आदि विषयों के सन्दर्भ में कैसे चल सकती है?" इस तरह शल्य जी अपने ही अवधारणा-सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण होकर अपने चिन्तन के दूसरे महत्त्वपूर्ण सोपान पर पहुँचते हैं जिसे चैत्त सापेक्षतावाद से निरपेक्ष चैतन्य में उत्क्रमण के रूप में समझा जा सकता है। इन दोनों ध्रुवों के मध्य दोलायमान शल्य जी के चिन्तन को **विषय एवं आत्म** (1972) नामक पुस्तक में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस

---

1. 'भारतीय दर्शन के पचास वर्ष' विषय पर आयोजित अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी, दिसम्बर 2001, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर में प्रस्तुत आलेख।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक में उन्होंने एक ओर बाह्य विषय को सापेक्षता से मुक्त कर उसे उसका वस्तुगत आधार लौटाने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर आत्मा को सापेक्ष विषयता से मुक्त कर आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। लगभग पन्द्रह वर्षों के पश्चात् शल्य जी को यह भान हुआ कि उपर्युक्त प्रयत्न में वे पूर्णतः सफल नहीं हो सके थे। स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि वे विषय की बाह्यता के चिद्गत स्रोतों एवं आत्मा की ऐसी तात्त्विकता की खोज में थे जो वस्तुरूप न होकर भाव्यात्मक हो। उनके ही शब्दों में ''अब, **विषय और आत्म** में जबकि मैं विषय के चिद्गत स्रोतों को देख पाया, स्वयं चेतना के उस स्वरूप को नहीं देख पाया जिससे ये स्रोत उद्गत होते हैं।''[4] इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप का सन्धान जिससे अनन्त विषयों के स्रोत उद्गत होते हैं, शल्य जी के दार्शनिक चिन्तन का अन्तिम और तृतीय प्रस्थान है। उनकी इस गम्भीर दृष्टि का विकास **चिद्विमर्श** (1978) नामक ग्रन्थ में हुआ है। यहाँ वे विषय की चिद्गत संरचनाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निवृत्ति में देखते हैं। यही शल्य जी के चिन्तन का चरम चिदद्वैती प्रस्थान है। इसका और अधिक पल्लवन उनके परवर्ती ग्रन्थों, जैसे **सत्ताविषयक अन्वीक्षा, समाज : दार्शनिक परिशीलन** और **मूल्यतत्त्व–मीमांसा** में हुआ है।

यहाँ अवधेय है कि शल्य जी के चिन्तन के विभिन्न सोपानों में उन्हें 'पहले' और 'बाद' के शल्य जी में विभाजित नहीं किया जा सकता। उनके चिन्तन के विभिन्न सोपान एक-दूसरे से अनन्वित नहीं बल्कि पूर्णतया अन्वित हैं। यहाँ तक कि ये सोपान एक ही मूल के विभिन्न कल्प और उसी से अनुप्राणित भी कहे जा सकते हैं। वह मूल एक ऐसी चेतना है जो अपने में जगद्भाव का आक्षेप करती है और पुनः आत्मोन्मुख निवर्तन में अपने भाव्य स्वरूप का साक्षात्कार करती है। आचार्य शल्य इस मूल चैतन्य को सर्वथा अपरिभाषेय बताते हैं। अपरिभाषेय इसलिए कि यह सब कुछ का पूर्ववर्ती है। यह पूर्ववर्तिता वास्तव में सब कुछ होने की पूर्वापेक्षा है। यदि चैतन्य कम से कम 'पूर्वापेक्षा' के रूप में ही परिभाषित किया जाय तो यहाँ पूर्वापेक्षा भी अवधारणात्मक रूप में ही गृहीत हो सकेगी और तब परिभाषा स्वयं में एक प्रकार से 'व्यत्यय दोष' से ग्रसित हो जायेगी। इसलिए यह सदैव अनिर्धार्य, निरुपाधिक और अतलान्त गहन ही बनी रहती है।

II

यदि शल्य जी की उपर्युक्त अनुसन्धान-यात्रा पर, जो वास्तव में सत्ता की अनुसंधित्सा है, गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह एक व्यापक परिप्रेक्ष्य को लिए हुए प्रतीत होती है। यद्यपि वे स्वयं कहते हैं कि उन्हें दर्शन के इतिहास की जानकारी कम ही है, लेकिन उनके चिन्तन एवं लेखन में दर्शनों के इतिहास की ऐसी सुतीक्ष्ण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समीक्षा एवं रचनात्मक उपयोग देखने को मिलता है जहाँ प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों की विभाजन-रेखा ही समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि उनके लेखन में तुलनात्मक दर्शन की एक ऐसी विधा फलित हुई है जहाँ दो दर्शनों के तुल्य सिद्धान्तों की आँगिक एकता प्रदर्शित नहीं होती बल्कि उस आधारभूत ढाँचे का सन्धान होता है जिसके चलते एक ही मूल के और दो भिन्न मूल के दर्शनों में एकता अथवा भेद परिलक्षित होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि शल्य जी सामान्य रूप से अपने चिन्तन को विश्व-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में संसदीय रूप प्रदान करते हैं। परन्तु यदि उनके चिन्तन का कोई एक विशेष पूर्वपक्ष ढूँढने का प्रयास किया जाय तो कहा जा सकता है कि शल्य जी की **सत्ता विषयक अन्वीक्षा** का पूर्वपक्ष अनुभववाद, या कहें तार्किक अनुभववाद रहा है। तार्किक अनुभववाद के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शल्य जी के चिन्तन में एक विशेष प्रकार का 'अतिशय' उत्पन्न हुआ है जिसे 1970 के बाद के उनके लेखन में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस अतिशय को तार्किक प्रत्यक्षवादियों द्वारा तत्त्वदर्शन या स्पेकुलेटिव मेटाफ़िज़िक्स के प्रत्याख्यान के पौर्वात्य उत्तर के रूप में समझा जा सकता है। प्रो जी.सी. पाण्डे शल्य जी की दर्शन-साधना पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि ''शल्य जी की दर्शन-साधना का प्रारम्भ तत्त्वदर्शन-विरोधी बौद्धिक परम्परा के अन्दर हुआ है और उनकी प्रारम्भिक रचनायें तो विशुद्ध रूप से समसामयिक पाश्चात्य दर्शन के घेरे में ही थीं, किन्तु क्रमशः उनके चिन्तन में व्यापक परिवर्तन आया और तत्त्वदर्शन के विरोध के स्थान पर उन्होंने तत्त्वदर्शन की विधा के अन्दर ही अपना विकसित कृतित्व सम्पन्न किया है।''[5] परन्तु शल्य जी के प्रारम्भिक चिन्तन के समसामयिक पाश्चात्य दर्शन के घेरे में होने का अर्थ उसका समर्थक होना नहीं था। इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से भी की जा सकती है। वास्तव में समसामयिक पाश्चात्य दर्शन अथवा अनुभववाद के विकसित प्रारूप सदैव ही उनके चिन्तन में पूर्वपक्ष के रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं, जबकि अनुभववाद उनके चिन्तन 'चिदद्वैतवाद' का एक कल्प भी है। चेतना के विषयोन्मुख प्रवर्तन में अनुभववाद एक अनिवार्य अवस्था के रूप में प्रस्तुत होता है। हाँ, अनुभववादी जब सत्ता को ऐन्द्रिक प्रदत्तता तक सीमित कर देते हैं तो शल्य जी का विरोध मुखरित हो उठता है। इस बात को **दार्शनिक विश्लेषण** के अन्तिम अध्याय की विवेचना में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसलिए तार्किक अनुभववाद की परिणति यदि तत्त्वदर्शन के खण्डन में हुई तो शल्य जी के चिन्तन का पर्यवसान तत्त्वदर्शन के मण्डन में होता है। **चिद्विमर्श, सत्ता विषयक अन्वीक्षा** एवं **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** आदि ग्रन्थ स्पेकुलेटिव मेटाफ़िज़िक्स अथवा तत्त्वदर्शन के पुनरुद्धार के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अवधेय है कि आचार्य यशदेव शल्य के 1970 के बाद के लेखन का एक विशेष रुझान, जिसे हमने तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान का पौर्वात्य उत्तर रूप 'अतिशय' कहा है, वह स्वातन्त्र्योत्तर काल में हुए भारतीय दार्शनिक चिन्तन में एक नई दिशा का द्योतक कहा जा सकता है। इसे स्वातन्त्र्योत्तर काल में हुए भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में परिगणित किया जाना चाहिए। जैसाकि सर्वविदित है, वियेना सर्किल (1929) के पश्चात् यूरोपीय चिन्तन का विकास भारतीय दर्शन के लिए एक से बढ़ कर एक चुनौतियों को लेकर सामने आया है। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चुनौती तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यानमूलक प्रयासों को कहा जा सकता है। जहाँ भारतीय दर्शन के लिए तत्त्वमीमांसा किसी भी मूल्य पर त्याज्य नहीं है वहीं तार्किक अनुभववादियों ने सार्वभौमिक रूप से परम्परागत तत्त्वदर्शन को अर्थहीन एवं व्यर्थ घोषित करते हुए दार्शनिक कर्म की इतिकर्त्तव्यता को भाषाविश्लेषण तक सीमित कर दिया। ध्यातव्य है कि यह सब कुछ विज्ञान और वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की देख-रेख में ही हो रहा था। एतद्विषयक शल्य जी की यह टिप्पणी बहुत समीचीन है कि आधुनिक यूरोप में जन्मे मानवीय ज्ञान की अधिकांश विधाओं का अगुआ, यहाँ तक कि उनका सांस्कृतिक नेता विज्ञान ही रहा है। विज्ञान के लिए जगत् की यथातथ्य प्रदत्तता ही उसका अन्तिम सत्य है। इसी मानदण्ड से प्रेरित होकर वियेना सर्किल के दार्शनिकों ने जीवन और जगत् की इन्द्रिय-संवेद्य अर्थवत्ता को चरम रूप में प्रस्तावित किया जिसकी स्वाभाविक परिणति परम्परागत तत्त्वमीमांसा के निराकरण में हुई। उनके लिए सत् वही है जो हमारे ऐन्द्रिक अनुभव में आता हो और आनुभविक उपकरणों द्वारा जिसे प्रमाणित अथवा सत्यापित किया जा सके। स्पष्ट है, तार्किक अनुभववादियों के मान्य उपकरणों से तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों को सत्यापित नहीं किया जा सकता, इस कारण वैसी सभी प्रतिज्ञप्तियाँ उनके लिए अर्थहीन हैं। वे सभी प्रतिज्ञप्तियों को विश्लेषणात्मक (अनुभव-निरपेक्ष) और संश्लेषणात्मक (आनुभविक) कोटि में विभाजित करते हैं, जबकि प्रतिज्ञप्तियों का एक तीसरा प्रकार भी हो सकता है जो एक तत्त्वमीमांसीय तन्त्र के तर्क-संस्थान में सार्थक प्रतीत होता है। शल्य जी ने ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को 'प्रतिपादनात्मक' कहा है, जिनके विषय न तो काल्पनिक होते हैं और न ही प्राकृतिक जगत् की वस्तुएँ होती हैं।[6]

III

सम्प्रति यूरोप में चलाया गया यह आन्दोलन पुराना पड़ गया है, या कहें कि उत्तर- आधुनिकतावाद के विखण्डनपरक चिन्तन में इसका स्वरूप बदल गया है। फिर भी भारतीय दर्शन के लिए यह विश्वदर्शन मंच पर आज भी एक प्रबल पूर्वपक्ष के रूप में बना हुआ है। वर्तमान युग की ऐसी विशेषता है कि हम इस पूर्वपक्ष की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनदेखी भी नहीं कर सकते हैं। यदि भारतीय दर्शन म्यूज़ियम में रखी कोई दर्शनीय वस्तु नहीं बल्कि अपने वास्तविक स्वरूप में आत्मसंर्जनमूलक विचारों की जीवन्त परम्परा है तो उपर्युक्त पूर्वपक्ष का उत्तर अवश्य प्रस्तुत किया जाना चाहिए। ऐसी भी बात नहीं कि स्वातन्त्र्योत्तर युग में इस अवान्तर पूर्वपक्ष की अन्यत्र कहीं चिन्ता परिलक्षित नहीं होती है, लेकिन एक योजनाबद्ध एवं व्यवस्थित उत्तर का सर्वथा अभाव रहा है। उस काल में भी भारतीय विश्वविद्यालयों में दार्शनिकों के एक ऐसे वर्ग को रेखांकित किया जा सकता है जो भारतीय दर्शन का पक्षधर था और पाश्चात्य दर्शन की अधुनातन प्रवृत्तियों से अपरिचित भी नहीं था। ऐसे दार्शनिकों के लेखन में साठवें दशक के पश्चात् उपर्युक्त पूर्वपक्ष को लेकर अच्छी-खासी चिन्ता दिखाई पड़ती है। शल्य जी के अतिरिक्त उनमें से कुछ का यहाँ नामत: उल्लेख स्थाने होगा। वे हैं—श्रीराम माधव चिंगले, कालिदास चट्टाचार्य, शिवशंकर राय, संगमलाल पाण्डेय, नन्दकिशोर देवराज, अशोक कुमार चटर्जी, रमाकान्त त्रिपाठी, ज.स.र.ल. नारायण मूर्ति, याकूब मसीह, गोविन्दचन्द्र पाण्डे एवं रेवतीरमण पाण्डेय इत्यादि, जिन्होंने तत्त्वमीमांसा के निराकरण की समीक्षा अपनी-अपनी दृष्टियों से करते हुए कम से कम एक-एक निबन्ध तो अवश्य लिखा है। यद्यपि इन आचार्यों के पृथक्-पृथक् प्रयासों को प्रकृत पूर्वपक्ष के प्रति एक संगठित एवं योजनाबद्ध प्रयास नहीं कहा जा सकता, लेकिन उनके प्रयासों पर समवेत रूप से विचार करने पर तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान के विरोध में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को सामने लाया जा सकता है।

एतद्विषयक शल्य जी का एकल प्रयास बहुत ही व्यापक, व्यवस्थित एवं टिकाऊ रहा है। उन्होंने अपने चिन्तन में कुछ ऐसे आधारों को विकसित करने का प्रयास किया है जो उन मानदण्डों की अपर्याप्तता को प्रदर्शित करते हैं जिन पर आश्रित हो तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान किया जाता रहा है। साथ ही उन्होंने समानान्तर रूप से एक 'चिदद्वैतवादी' तत्त्वमीमांसा को भी प्रस्तुत किया है जो अपने मूलगामी स्वरूप में औपनिषद है और जिसमें प्रतिपादित तत्त्व किसी अतिप्राकृतिक लोक की सत्तायें नहीं हैं। शल्य जी[7] के अनुसार 'एक समग्र दर्शन का कार्य आत्मा, ईश्वर, सृष्टि की उत्पत्ति और उसके प्रयोजन पर विचार करना था और इस विचार को सत्य का ज्ञापक तथा उन्मेषक माना जाता था। किन्तु पीछे दर्शन के बौद्धिक कल्पना-प्रधान हो जाने के कारण ये तत्त्व मननीय और साक्षात्कार्य अर्थ नहीं रह कर अनुमानगम्य परोक्ष रूप में कल्पनीय हो गये। इस प्रकार दर्शन के द्वारा प्राकृतिक वस्तुलोक के समकक्ष एक अतिप्राकृतिक वस्तुलोक की रचना हो गई और परिणामस्वरूप दर्शन को अपने सम्बन्ध में अतिप्राकृतिक वस्तु-विषयक विज्ञान होने का भ्रम हुआ। काण्ट के द्वारा तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान इसी प्रकार के अपविज्ञान का प्रत्याख्यान है।' इसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विपरीत, शल्य जी के अनुसार, 'भारतीय तत्त्वदर्शन का मूल स्वरूप अतिप्राकृतिक विज्ञान जैसा नहीं रहा है। उपनिषदों की 'तत्त्वमसि', 'आत्मा वै ब्रह्म' आदि उक्तियाँ किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रतिपादक वाक्य नहीं हैं बल्कि आत्ममननजन्य दृष्टि की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस दृष्टि से भारतीय तत्त्वदर्शन एवं तार्किक प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रत्याख्येय तत्त्वमीमांसा में भेद अपेक्षित है और तब भारतीय तत्त्वदर्शन अपने मूल स्वरूप में स्पैकुलेटिव नहीं बल्कि नॉन स्पेकुलेटिव ही ठहरता है।' शल्य जी की **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक को इस अर्थ में औपनिषद तत्त्वदृष्टि का नॉन स्पैकुलेटिव पुनर्व्याख्यान कहा जा सकता है।

शल्य जी तत्त्वमीमांसा को निराकृत करने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति की सम्यक्ता पर प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि ''तत्त्वमीमांसा की व्यापक अस्वीकृति के पीछे उनकी एकमात्र पूर्वमान्यता यह रही है कि सत् जगत्पर्यन्त है किन्तु मनुष्य की कल्पना जगत्पर्यवसायी नहीं है।''[8] वास्तव में सत् को जगत्पर्यन्त मानने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति क्या इस प्रश्न पर कभी विचार करती है कि जब मानवीय कल्पना जगत्पर्यवसायी नहीं है तो मानव के लिए सत् किस प्रकार केवल जगत्पर्यन्त ही हो सकता है? शल्य जी की यह सारगर्भित टिप्पणी इस बात को गम्भीरता से प्रस्तावित करती है कि ऐसा सिद्धान्त सम्पूर्ण मानवीय पर्येषणाओं के साथ न्याय नहीं कर सकता और न ही इस मर्म की व्याख्या कर सकता है कि मानवीय कल्पना जगत्पर्यवसायिता का अतिक्रमण क्यों करती है? वस्तुतः इसी अतिक्रमणशीलता में मनुष्य की विशिष्टता और सत्ता का मानो रहस्य छिपा हुआ है और यह मनुष्य के हर एक क्रिया-कलाप में दिखाई पड़ता है। मनुष्य के सभी प्रयत्न प्राप्त स्थिति से उबरने और उससे आगे अपने को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न के रूप में व्याख्यायित किये जा सकते हैं, मानो उसका कोई अन्य गन्तव्य अवश्य है और उसकी सापेक्षता में वह अपनी प्राप्त स्थिति को न्यून पाता है। यदि हम इस बात को स्वीकार करते हैं तो तत्त्वमीमांसा के गहरे पानी में गोता लगाना ही होगा और सत्ता की अन्वीक्षा उस रूप में करनी होगी जिसमें मानवीय पर्येषणायें मूल्यबोध के उत्कर्ष में अपनी आत्मपूर्ति देख सकें। शल्य जी अपने 'चिदद्वैतवाद' में सत्ताविषयक ऐसी ही व्यापक अवधारणा को सामने लाने का वरेण्य प्रयास करते हैं। उनका चिन्तन एक ऐसे अखण्ड सत्य का अन्वेषण है जो समस्त खण्ड सत्यों को अन्तर्निहित करता हुआ उनका अपनी भूमा में अतिक्रमण करता है। इसीलिए उन्होंने 'सत्ता' को 'अस्तित्व' और 'वस्तुतता' की कोटियों से हटाकर 'भाव्य-भाव' की कोटि में अवधारित किया है।[9] उनके अनुसार अकेला 'भाव्य' कहने में यह दोष है कि तब सत् स्वरूपतः अपूर्ण हो जायेगा और केवल 'भाव' कहने से न अनिष्ट, अव्यवस्था और न्यूनता का कोई अर्थ रहेगा और न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मूल्यपर्येषणा का। एक ओर सत्ता की गरिमा के लिए यह आवश्यक है कि वह भाव्य हो और दूसरी ओर भाव्य के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि वह निरपेक्ष पूर्ण भाव हो। यह अन्तर्विरोध ही सत्ता की विपुल पूर्णता का रहस्य है।

इस प्रकार सत्ता को उसकी विपुलता एवं पूर्णता में अवधारित करते हुए शल्य जी अस्तित्व एवं वस्तुता की कोटियों को सर्वथा बहिष्कृत नहीं कर देते हैं बल्कि सत्ता को अस्तित्व और वस्तुता के आदिम स्रोत के रूप में ही देखते हैं। उनके ही शब्दों में ''अस्तित्व को मैंने सत्ता के जीवन में एक आगन्तुक आविर्भाव के रूप में देखा है, उसे एक आयाम या घटक के रूप में नहीं।'' पुनः, 'अस्तित्व' मेरी विचार-व्यवस्था में सांवृतिक चेतना, वेदना, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय कोश, ऐन्द्रिक-दैहिक आविर्भाव है।''[10] सत्ता के सन्दर्भ में अस्तित्व को 'आगन्तुक आविर्भाव' कहने का तात्पर्य यह है कि अस्तित्व सत्ता की पूर्णता के लिए अनिवार्य नहीं है। यह सत्ता के इतिहास में एक अनादि व्यवधान है। यही व्यवधान चैतन्य के जगद्विवर्त का निमित्त भी है। इसलिए अस्तित्व के सत्य होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह सत्ता में अधिष्ठित हो, किन्तु सत्ता की पूर्णता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अस्तित्व की कोटियों में अभिव्यक्त भी हो। प्रपंच विषयक श्रुतियों की व्याख्या में शंकराचार्य भी ''न हि सृष्ट्यादि प्रपञ्चो विवक्षितः'' कहते हुए ब्रह्म के लिए सृष्टि-प्रपञ्च को आवश्यक नहीं पाते हैं। शल्य जी की व्याख्या भी कुछ इसी प्रकार की है जब वे कहते हैं कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' का अर्थ यह नहीं है कि ''जगत् की वस्तुओं और जीवों का अस्तित्व है'' बल्कि यह ईश्वर के अपने अस्तित्व का ही कथन है, जिस प्रकार किसी कलाकार के अस्तित्व के सम्बन्ध में कथन का यह अर्थ नहीं है कि उसकी कृतियों का भी अस्तित्व है।

इसलिए अस्तित्व मात्र की आगन्तुकता अथवा अपर्याप्तता, जिसे शल्य जी सत्ता में आक्षिप्त एक व्यवधान के रूप में देखते हैं, उनकी सम्पूर्ण विचार-व्यवस्था में नाभिक जैसा है। अपनी रचनाओं में उन्होंने इसकी व्याख्या तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, मूल्यमीमांसीय एवं प्रयोजनात्मक दृष्टि से बड़े विस्तारपूर्वक की है। यह उनके चिन्तन का सर्वाधिक सगर्भ पक्ष है। उनके गूढ़ार्थ को उनके ही शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि ''वह सब कुछ जो है, आगन्तुक स्वभाव है और यह एक ही बात इसे सत्ता के लिए अपर्याप्त बना देती है। उदाहरण के लिए 'यह घट' देश, काल एवं अन्य वस्तु आदि-आदि सब में असत् से परिवेष्टित है। किन्तु यह केवल इसी कारण से आगन्तुक नहीं है बल्कि इसलिए भी आगन्तुक है क्योंकि यह अपने प्रत्यय में ही आगन्तुक है। उदाहरणतः यदि जगत् न केवल देश और काल में ही सर्वत्र आपूरित हो बल्कि अपने में अस्तित्व मात्र का भी समावेश करता हो, तो भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह अनिवार्य नहीं होगा, क्योंकि इसका अन्यथात्व कल्पनीय है, अर्थात् यह अपने प्रत्यय के लिए पर्याप्त नहीं है। इसी प्रकार आहंकारिक चैतन्य, जो 'मैं' पद का वाच्य है, वह भी अनिवार्य नहीं है। यह केवल देश और काल में ही परिसीमित और व्यक्ति के रूप में अन्य व्यक्तियों से व्यावृत्त नहीं है बल्कि अपने प्रत्यय में भी घट और जगत् के समान ही आत्म-अपर्याप्त है।''[11]

IV

आचार्य शल्य अपनी विचार-व्यवस्था में तत्त्वमीमांसा के उत्स और औचित्य को प्रतिपादित करने के लिए घट-पट आदि प्राकृतिक वस्तुओं और 'मैं' पद-वाच्य आहंकारिक चैतना की आगन्तुकता और अपर्याप्तता में भेद करते हैं। यही भेद वह भूमि है जहाँ मानवीय चेतना का विश्लेषण और उसमें निहित अभीप्सा और मूल्यात्मक पर्येषणाओं का उद्घाटन तथा साथ ही साथ मनुष्य की तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्ति के औचित्य की सिद्धि होती है। शल्य जी की दृष्टि में मनुष्य, पशु और भौतिक वस्तुओं को अस्तित्व के इतिहास में क्रमशः जगद्भावापन्न चैतन्य, चित्त और अचित् कहा जा सकता है। इसमें भौतिक अस्तित्व भीतर-बाहर उभयतः बन्द है और पाशव अस्तित्व भीतर से बन्द और बाहर से इतरोन्मुख खुला है। यह केवल मानवीय अस्तित्व है जो भीतर और बाहर दोनों ओर खुला है। इस प्रकार खुले होने से उसमें अपर्याप्तता वास्तव में आत्म-अपर्याप्तता का रूप ले लेती है। इस आत्म-अपर्याप्तता के बोध में उस पर्याप्तता की स्मृति या आभास भी अन्तर्निहित होता है जिससे वह वियुक्त है। मानवीय चेतना में एक मूलगामी आत्म-अतिक्रामिता में, उसके आत्म संशोधनात्मक सभी प्रयत्नों में यह सब कुछ भली-भाँति देखा जा सकता है। शल्यजी के अनुसार आहंकारिक चैतन्य की आत्म-अपर्याप्तता दूसरे अस्तित्वों से इस अर्थ में गम्भीर एवं तीव्र है कि इसका प्रत्यय आत्म-बाह्य नहीं हो कर आत्मप्रकाशित होता है। अर्थात् यह केवल अन्य-व्यावृत्त नहीं हो कर आत्म-व्यावृत्त या आत्मनिर्वासित भी होता है। यह अपने भीतर अपने अभाव से, अपने वैपरीत्य से, अनात्म से दंशित है। यह परिस्थिति इसे एक-दूसरा ही आयाम प्रदान करती है। अर्थात् इसे अपने से अतिक्रामी सत्त्व दे देती है। यही वह अतिक्रमण है जो प्लेटो द्वारा श्रेयस् को ज्ञान और सत् से ऊपर अतिसत् के रूप में रखने में अभिप्रेत है और जो 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' में श्वेतकेतु का सत्त्व श्वेतकेतु से ऊपर ब्रह्म में स्थापित करने को सार्थकता देता है। इसलिए मानवीय चैतन्य की विशिष्टता उसकी आत्मप्रकाशित आत्म-अपर्याप्तता का बोध है जो स्वयं व्यक्ति में अपने भाव से ऊपर उठने के अतिक्रांत संकल्प के रूप में दृष्टिगत होता है। मानो अस्तित्व के इतिहास में मानव इसी संकल्प के साथ अपनी आँखें खोलता है।[12]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मनुष्य का एक अतिक्रामी संकल्प को लिए हुए अपनी आँखें खोलने का तात्पर्य यह है कि चेतना मनुष्य के माध्यम से पहली बार आत्मचेतन होती है और सत् के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। मनुष्य की यह अनुसन्धित्सा अपने होने के अर्थ, उसके आधार और गन्तव्य की जिज्ञासा के रूप में होती है। इस सृष्टि में मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य सत्त्व में यह जिज्ञासा प्रकट नहीं होती, मानो मनुष्य के माध्यम से सत्ता स्वयं ही प्रश्न उठाती है कि सत्ता क्या है? शल्य जी के अनुसार इसका उत्स जगद्भाव में चेतना का अपने आप को आत्म-अभावापन्न, आत्म-अपर्याप्त अथवा आत्मनिर्वासित पाना है। तत्त्वमीमांसीय गति और प्रवृत्ति इसी मूल अभाव और अपर्याप्तता के स्रोत की खोज है। इस स्रोत की खोज में जगद्भावापन्न चैतन्य (मनुष्य) अपार अर्थ राशि का सृजन, अवगाहन और उसका अतिक्रमण करते हुए अपने मूल स्वरूप की ओर द्वितीयावर्तन करता है। यह द्वितीयावर्तन वास्तव में सत्कार्यात्मक नहीं बल्कि असत्कार्यात्मक अर्थ में आत्मोन्मुख निवर्तन है, जो चेतना के प्रत्यङ्मुख व्यापार में घटित होता है। सृष्टि के इतिहास में चेतना की प्रत्यङ्मुखंता, जो मानवीय स्थिति की विलक्षण विशिष्टता है, एक मौलिक रूप से नव्य परिच्छेद है।

इस नव्य परिच्छेद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'अतिक्रमणशीलता', अर्थात् अपने प्राप्त रूप का निषेध और आदर्श-पर्येष्य रूप का आक्षेप है। इसी के चलते मनुष्य सदैव अपने आदर्श से परिभाषित अस्तित्व रहता है। शल्य जी[13] के अनुसार 'मैं हूँ' यह अस्तित्व की ही आद्य और अधिष्ठानभूत घोषणा नहीं है बल्कि अधिक मौलिक रूप से यह अपनी भाव्यता की भी घोषणा है। यहाँ से ही सृजन की, आरोहण की, अनात्म से मुक्ति की, आत्मव्यवधान के निवारण की और अपने मूल स्वरूप की सिद्धि की यात्रा आरम्भ होती है। वस्तुत: शल्य जी के चिन्तन में प्रत्यङ्मुख चेतना की जैसी गम्भीर और गहन विवेचना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्पूर्ण दर्शन प्रत्यङ्मुख चेतना के भाष्य, वार्तिक और अलंकार रूप विवेचना में ही फलित और प्रमाणित होता है। चैतन्य की मानुषी स्थिति में पराङ्मुख और प्रत्यङ्मुख नामक दो विपरीत दिशाओं में गति देखी जाती है। विषयोन्मुख इन्द्रिय-वृत्ति में चेतना का अपने विषयों में निश्शेष हो जाना, उसको समर्पित हो जाना, यह पराङ्मुखता की पराकाष्ठा है। इसके विपरीत प्रत्यङ्मुखता आत्मोन्मुख अतिक्रमण के रूप में एक पूर्णत: मूलगामी घटना है। शल्य जी की सत्ता विषयक अन्वीक्षा में यह मूलगामी आत्मोन्मुख अतिक्रमण विषय से उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं से उनकी मूलाग्र चिद्वृत्तियों में और इन चिद्वृत्तियों से निरुपाधिक चैतन्य में अपनी पर्यन्तता को अधिगत करता है।[14]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस प्रकार जगद्भावापन्न चैतन्यरूप मनुष्य के आत्मोन्मुख अतिक्रमण के मर्म को हृदयंगमित किये बिना 'तत्त्वमीमांसा क्या है' इसे बाहरी तौर पर तो किसी तरीके से विश्लेषित किया जा सकता है लेकिन 'तत्त्वमीमांसा क्यों है' इसे अभ्यान्तरिक रूप से उद्घाटित नहीं किया जा सकता। आचार्य यशदेव शल्य की **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** में तत्त्वमीमांसा का जो प्रस्ताव हुआ है वह अपने आप में 'तत्त्वमीमांसा क्यों' का भी समुचित उत्तर प्रदान करता है।

द्रष्टव्य है कि उन्होंने अपनी **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** को केवल तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों तक ही सीमित नहीं रखा है, बल्कि उसमें समाज, संस्कृति, साहित्य एवं कला से सम्बन्धित विचारों को भी समुचित स्थान प्रदान किया है। उनके चिन्तन के ऐसे सभी पक्ष तत्त्वमीमांसा से असम्बद्ध भी नहीं हैं बल्कि उसी दृष्टि के विभिन्न कल्प एवं पुंखानुपुंख विवेचन के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। आचार्य शल्य के एतद्विषयक विविध आयामी विवेचन के लिए उनकी **संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या, समाज : दार्शनिक परिशीलन,** तथा **साहित्य -चिन्तन और युग-चिन्तन** इत्यादि पुस्तकें तथा **उन्मीलन** और साहित्यिक पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित उनके आलेख अवलोकनीय हैं।

डॉ. हरि सिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. यशदेव शल्य, 'सत् की चिन्मयता', उन्मीलन, वर्ष-15, अंक-1, 2001, पृ. 1
2. यशदेव शल्य, दार्शनिक विश्लेषण, द्रष्टव्य 'दार्शनिक विश्लेषण एवं अनुभववाद' नामक अध्याय, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, 1962
3. यशदेव शल्य, चिद्विमर्श, 'प्राक्कथन', पृ. 2, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर
4. वही, पृ. 3
5. द्रष्टव्य, वही, पृ. 53
6. प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे, 'श्री यशदेव शल्य की दर्शन-साधना', यशदेव शल्य का दर्शन, पृ.1, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, 2002
7. द्रष्टव्य दार्शनिक विश्लेषण, 'दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद' अध्याय
8. यशदेव शल्य, सत्ताविषयक अन्वीक्षा, पृ. 9, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1987
9. यशदेव शल्य, मूल्यतत्त्व-मीमांसा, पृ. 1, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, 1994
10. यशदेव शल्य, सत्ताविषयक अन्वीक्षा, पृ. 10
11. वही, पृ. 10
12. वही, पृ. 34

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'सावित्री' और श्री अरविन्द

रमेशचन्द्र शाह

एक

बीसवीं सदी के अवसान की घड़ियों में सारी दुनिया में—स्वयं भारत में भी—पत्रकारिता और साहित्यिक विमर्श दोनों स्तरों पर जिस तरह के आकलन किये गये उन्हें देखते हुए एक व्यंग्य-विपर्यय की तरह यह बात मन में आई कि इस सब में जिस एक आदमी की सबसे पहले याद आना स्वाभाविक होता उसकी याद किसी को नहीं आई। ऐसा क्यों? इस शताब्दी में ही क्यों, किसी भी युग में, किसी भी सभ्यता के इतिहास में एक ही व्यक्ति के भीतर लगभग विपरीत समझी जाने वाली क्षमताओं का ऐसा सम्मिलन दुर्लभ्य है। कवि और चिंतक का, ऋषि और मुनि का, पूर्व और पश्चिम का, योगी और दार्शनिक का, तत्त्व-ज्ञानी और कर्म-योगी का ऐसा उत्कट और प्रभावशाली मेल क्या कहीं और दिखाई पड़ता है? स्वयं इस देश के इतिहास में भी? फिर भी, अपने वर्तमान आचरण को, यानी अपने बुद्धिजीवियों और राजनीतिकों के आचरण को देखते हुए, श्री अरविन्द जैसी घटना के घटमान होने का कौन कहे, घटित हो चुकने तक का अहसास क्या कहीं दीखता है? इसी शताब्दी के दूसरे युग-पुरुष महात्मा गाँधी के उदाहरण को भी हम सरकारी-ग़ैर सरकारी दोनों ही स्तरों पर नाम-स्मरण-कीर्तन से आगे कारगर होते नहीं देखते। क्या यह बात अपने-आप में विस्मयकारी नहीं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि ये दोनों लगभग समकालीन थे, समकालीन भारत के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से भी और राजनीति में आध्यात्मिक शक्ति के विनियोग की दृष्टि से भी कहीं न कहीं परस्पर पूरक थीं इनकी भिन्नताएँ भी।

दो

हमारी, यानी वर्तमान भारत की, एक बहुत बड़ी समस्या सांस्कृतिक लय-भंग की है, सांस्कृतिक आत्मविश्वास के छिन्न-भिन्न हो जाने की है। मैं समझता हूँ उक्त दोनों महापुरुषों का जीवन-कार्य इस लयभंग का उपचार करने का अपने ढंग का अनूठा उपक्रम था, उक्त सांस्कृतिक आत्मविश्वास को लौटा लाने का तप था, जो मानववादी दृष्टि से भी कहीं बड़ी दृष्टि, जिसे हम चराचरनिष्ठ ज्ञान-दृष्टि कह सकते हैं, उसकी प्रासंगिकता को लौटा लाने का तप था, जो दृष्टि किसी अन्य लोकमंगल-विधायक दृष्टि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के आड़े नहीं आती, किसी अन्य मानव-सभ्यता या संस्कृति के अवदान के आड़े नहीं आती, बल्कि ऐसे समस्त योगदान को समेटती हुई चलने को ही प्रतिश्रुत होती है, इसलिए कि वह सत्ता के सबसे भीतरी वृत्त, कहना चाहिए सबसे मूलभूत केन्द्र, से काम करती आई है। उसकी मूल प्रेरणा और चालक शक्ति आध्यात्मिक यथार्थ, या कह लीजिए आध्यात्मिक यथार्थवाद है—जिसमें से, और मात्र जिसमें से, वह चराचरवादी दृष्टि आती है जो मानववाद और बुद्धिवाद और समाजवाद इत्यादि को अपने में समाहित करते हुए भी उनसे कहीं अधिक मूलगामी और सर्वव्यापी दृष्टि है।

तीन

सावित्री इसी सत्य के अनुसंधान का आख्यान और कवि-कर्म है। ग्योएथे के 'फ़ाउस्ट' की तरह इसकी रचना की अवधि रचनाकार के समूचे आयुष्य को समेटे हुए है। श्री अरविन्द की अन्य सारी कृतियाँ बहुत जल्दी पूर्ण हो गई थीं। मैं समझता हूँ, **'आर्य'** के संपादनकाल की जिस छोटी सी अवधि में कर्मक्षेत्र की घनघोर व्यस्तताओं के बीच जितना सान्द्र और सारभूत लेखन जितने विपुल परिमाण में श्री अरविन्द ने किया उतना और वैसा लेखन-कर्म शायद ही किसी ने किया होगा। सन् बीस के बाद वे पूर्णत: योग-साधना को समर्पित हो चुके थे। वह भी उनके लिए कर्म ही था। किन्तु इस सम्पूर्ण अवधि में **'सावित्री'** को छोड़कर और कोई लेखन उन्होंने नहीं किया। मात्र एक **सावित्री** का प्रणयन उनकी साधना के साथ-साथ चलता रहा। उस साधना के अविभाज्य अंग की तरह इस तथ्य को याद रखना आवश्यक है। **सावित्री** आध्यात्मिक साधना और आध्यात्मिक सिद्धि का काव्य है। ऐसा काव्य जिसके समरूप-समकक्ष और कोई उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलेगा। किन्तु यह तथ्य अपने-आप में **सावित्री** की दुरूहता का, संप्रेषण के स्तर पर उसकी अलोकप्रियता का कारण भी है। मैं स्वयं अपने अनुभव का प्रमाण लूँ। मैं साहित्य के क्षेत्र में काम करने वाला एक ऐसा व्यक्ति हूँ जिसे साहित्य के सर्वसमावेशी स्वभाव के कारण ही अन्य मानवीय गतिविधियों, यथा दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति, समाज-शास्त्र आदि में भी थोड़ी बहुत दिलचस्पी रही है। गाँधी वाङ्मय से मेरा संपर्क लड़कपन में ही हो गया था। किन्तु अरविन्द-वाङ्मय में मेरी दिलचस्पी सन् 71 के आसपास, यानी अपनी उम्र के पैंतीसवें वर्ष में ही जागृत हो सकी। इस विलम्ब का कारण स्पष्ट ही मेरा परिवेश था। साहित्यिक और बौद्धिक क्षेत्रों में श्री अरविन्द का नाम मुश्किल से ही कभी सुनाई देता था। मेरे समाजवादी गुरु भी यही कहते थे कि श्री अरविन्द को गम्भीरता पूर्वक लेने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि एक तो उनके यहाँ योग-अध्यात्म वगैरह का पचड़ा है, दूसरे, उनका सारा लेखन अंग्रेज़ी भाषा में होने के कारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अप्रामाणिक है। कहने का मतलब यह कि मेरे परिवेश में श्री अरविन्द को लेकर तमाम तरह के पूर्वग्रह सक्रिय थे जिनका असर तमाम अन्य लोगों की तरह मुझ पर भी पड़ना ही था। इसके पूर्व एक बार, सिर्फ एक बार, किसी के आग्रह करने पर मैंने **सावित्री** पढ़ने की कोशिश की थी, मगर उसमें मन नहीं लगा। जल्दी ही उससे मैं विरक्त हो गया। **सावित्री** मुझे न तो मेरे परिचित और प्रिय मिल्टन, शेक्सपीयर, शैली इत्यादि की कविता जैसी कोई चीज़ लगती थी न अपने यहाँ के **रामायण, महाभारत** या **रघुवंश** जैसी कृतियों को पढ़ने के मेरे अनुभव के करीब लगती थी। मुझे वह दुरूह, अति रहस्यवादी लगी और मैंने उसे छोड़ दिया। कालान्तर में अंतत: श्री अरविन्द के पास मैं वापस लौटा। मगर कब? तब, जब उनका **वेद रहस्य** पन्ना में निवास के दौरान मेरे पढ़ने में आया। उस एक किताब ने श्री अरविन्द के प्रति मेरी समूची दृष्टि ही बदल दी। साहित्यिक-स्वभाव के प्राणी के लिए अन्य विषयों में पैठ भी साहित्यिक कारणों से ही सम्भव हुआ करती है। **वेद रहस्य** मुझे लगा मानो प्रतीकवादी काव्य की व्याख्या से जुड़ा कोई अद्भुत मर्मभेदी आलोचना-ग्रन्थ हो। तो, श्री अरविन्द को मैंने सर्वप्रथम एक महान् आलोचक के रूप में जाना। उसके बाद **फ़ाउंडेशन ऑफ इंडियन कल्चर** पढ़कर इस बात की और पुष्टि हुई। अनिवार्यत: इसके बाद **सिंथेसिस ऑफ योग** तथा **एस्सेज़ ऑन गीता** में प्रवेश मिला। तब भी मेरी हिम्मत **सावित्री** में छलांग लगाने की नहीं हुई। मुझे दस साल इंतजार करना पड़ा तब जाकर अभी तीनेक वर्ष पूर्व ही मैं **सावित्री** को आद्योपान्त उस तरह पढ़ सका जिस तरह कभी **महाभारत** या **डिवाइन कॉमेडी** को पढ़ा था। इसके बावजूद, मैं यह दावा कतई नहीं कर सकता कि मैं **सावित्री** को सचमुच आत्मसात् कर सका हूँ या अधिकारपूर्वक उसके बारे में बोल सकता हूँ। निश्चय ही वह अरविन्द-साहित्य की केन्द्रीय कृति है। किन्तु वह उन्हीं के लिए पूरी तरह मर्मोद्घाटक हो सकती है जो उसके भीतर कार्यरत योग-साधना के सोपानों से प्रत्यक्ष अनुभव के स्तर पर घनिष्ठ हो सकते हैं। किन्तु जो नहीं हैं उन्हें उसमें कुछ भी नहीं मिल सकता, ऐसा भी नहीं है। इतना मैं ज़रूर कहना चाहूँगा, अपने अनुभव के बल पर, कि **सावित्री** में प्रवेश पाने के लिए पहले श्री अरविन्द की दूसरी कृतियों, विशेषकर—**सिंथेसिस ऑफ योग** या **मानव-चक्र** का अवगाहन अत्यावश्यक है। **मानव-चक्र** में श्री अरविन्द मनुष्य-जाति के इतिहास का अवगाहन करते हुए उसके आगामी आध्यात्मिक युग के अनिवार्य प्राकट्य का विचार सामने रखते हैं, मानव-विकास की अनिवार्य परिणति की तरह। वे इसमें बताते हैं कि किस तरह सभी मानव-समाजों का आरम्भ प्रतीकवादी मानसिकता से होता है—धर्म-भावना और धर्मानुभूति के प्रतीकों से। वे यह भी बताते हैं कि इस अवस्था में नर और नारी दिव्य तत्त्वों के प्रतीक होते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किन्तु परवर्ती सोपानों पर नारी की स्थिति हीनतर होती जाती है, जिस असंतुलन को तंत्र भी ठीक नहीं कर पाता। क्या यह अपने-आपमें बड़ी विचारोत्तेजक और जड़ की बात नहीं है?

चार

सावित्री महाकाव्य **महाभारत** के एक उपाख्यान पर आधारित है। क्या कारण है कि कवि ने सावित्री-सत्यवान् की कथा को ही चुना? भारतीय विश्व-दृष्टि की पश्चिमी दृष्टि से तुलना करने पर जो एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखता है वह है नश्वरता के तथ्य का निस्सन्दिग्ध स्वीकार, किन्तु मृत्यु के पार सनातन जीवन के आलोक की अनुभूति। अब यहाँ पर एक विभाजन-सा भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन और अनुभव के इतिहास में दिखता है, जिसे हम विभाजन की तरह न देखकर द्वंद्व-द्वैत या युग्म की स्थिति के रूप में देख सकते हैं। दो परम्पराएँ हैं, ब्राह्मण और श्रमण। अगले दौर में वे वैदांतिक और बौद्ध-जैन दृष्टियों के टकराव अथवा साहचर्य के रूप में सामने आती हैं। इसी तरह ऋषि और मुनि के युग्म की भी बात आती है। दोनों साक्षात् अनुभव पर आधारित और दोनों अनुभव द्वारा सत्यापनीय और दोनों के अपने शास्त्र। ज़ोर समन्वय पर रहा है, विरोध पर नहीं। ऋषि-दृष्टि क्रांतदर्शी कवि की दृष्टि है जो 'वाक्' की महिमा को प्रतिष्ठित करती है, वाक्-आधारित संस्कृति का प्रवर्तन करती है। मुनि-दृष्टि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' वाली अवस्था पर एकाग्र है। एक धारा है वैदिक कर्मयोग की, जिसे जयशंकर प्रसाद 'आत्मवाद' या 'आनन्दवाद' पदों से अभिहित करते हैं। दूसरी वह है जिसे वे आदर्शवादी या दुःखवादी धारा कहते हैं। यह द्वन्द्व आप ठेठ समकालीन भारत के इतिहास में भी देख सकते हैं, इस फ़र्क के साथ कि जहाँ स्वातंत्र्यपूर्व भारत में ऋषि-परम्परा वैदिक कर्मयोग के पुनरुज्जीवन की संभावना के रूप में प्रकट हो रही थी और अरविन्द तथा गाँधी के प्रकटतः परस्पर विरोधी मगर वास्तव में परस्पर पूरक कर्म के चलते श्रमण-परम्परा के अवदान को भी समाहित करते हुए विकसित होती दिखाई पड़ रही थी, वहीं स्वातंत्र्योत्तर, या कहें दास्योत्तर भारत के इतिहास में एक विचित्र विडम्बना उभरकर सामने आई है—समन्वय की अपेक्षा विखण्डन की, सहयोग के बदले संघर्ष की, सांस्कृतिक आत्मविश्वास से प्रेरित कर्म और चिंतन की जगह परोपजीवी विचारधाराओं के प्राबल्य और दासत्व की विडम्बना। यदि हमें **सावित्री** और उसके निमित्त से श्री अरविन्द के जीवन-कार्य की समकालीन प्रासंगिकता को अपने लिए खोजना-पाना है तो हमें इस समकालीन परिदृश्य पर आँख गड़ाकर निकट और सुदूर अतीत की वास्तविक घटनाओं को देखना होगा। तब इस परिप्रेक्ष्य में ही हमें श्री

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अरविन्द के कृतित्व की सही जगह दिखेगी और समझ में आयेगी। बिना इस अत्यावश्यक अध्यवसाय के श्री अरविन्द या उनकी **सावित्री** की बात उठाना एक आनुष्ठानिक उपक्रम भर होगा। इस तरह का उपक्रम हमारे लिए, हमारे देशवासियों के सम्मुख खड़ी दुर्दान्त चुनौतियों और समस्याओं को देखते हुए व्यर्थ का वाग्विलास ही ठहरेगा। इस संक्षिप्त लेख की सीमाओं के चलते यह संभव नहीं है कि **सावित्री** की संरचना और काव्य-मर्म को लेकर विस्तार से विश्लेषण-संश्लेषण की प्रक्रिया चलाकर बात की जाए। यहाँ हम मात्र एक विहंगम दृष्टि इस संरचना पर डालेंगे।

प्रारम्भ उषा पर्व से होता है, उषा के प्रतीक से। इस पहले खण्ड में ही कवि राजयोग और गुह्यविद्या की स्वानुभूत गहराइयों में उतर जाता है। दूसरे सर्ग में विश्व-सृष्टि के सोपान-क्रम का उद्घाटन होता है। यहाँ सूक्ष्म भूततत्त्व के साम्राज्य से लेकर अल्पप्राण सत्ता के लोकों से गुज़रते हुए महत् प्राणसत्ता के लोकों और देवताओं की बात कही गई है। एक ओर मनोमय कोष की आत्मा की, दूसरी ओर विश्वात्मा की। तीसरा पर्व अदिति-पर्व है जिसमें आत्मा के अधिष्ठान की, नई सृष्टि की बात उभरती है। तब जाकर दूसरे खण्ड में सावित्री, अर्थात् महाकाव्य की नायिका दृष्टि-केन्द्र में आती है। जन्म और अभीप्सा का पर्व है यह ज्योति का जन्म और शैशव, ज्योति का बढ़ना, जीवन-ध्येय के बोध का उदय। पाँचवें पर्व में सत्यवान्-सावित्री के प्रेम-प्रसंग का सांकेतिक चित्रण है। छठा पर्व नियति पर्व है। इसमें नियति और दुःख की समस्या का मंथन है। सातवाँ पर्व पूरी तरह योग पर्व है। सावित्री-सत्यवान् के मिलन के उल्लास पर मृत्यु के पूर्व-ज्ञान और तत्संभूत वेदना की छाया और कठोरतम अग्नि-परीक्षा भी इसी मिलन में। तब हम जाकर देखते हैं कि कवि इस कथा को आत्मा की खोज की रूपक-कथा की तरह प्रत्यक्ष कर रहा है। इसी सिलसिले में वह अनुभवगम्य अन्तर्वर्ती लोकों में प्रवेश करता है, आत्म-साक्षात्कार के क्रमिक सोपानों पर आरोहण करते हुए निर्वाण और नकारात्मक शून्य की खोज करता है और उसे भी अतिक्रांत करने का मार्ग खोजता है। आठवाँ पर्व मृत्यु-पर्व है। अरण्य में सत्यवान् की मृत्यु होती है। नवाँ पर्व मृत्यु के काले खोखल का साक्षात्कार है। अनन्त अभेद्य तमिस्रा के भीतर की यह यात्रा है। मृत्यु (यमराज) सावित्री को अपने आदर्श से, संकल्प से विरत करने के लिए तमाम तरह के तर्क प्रस्तुत करती है। यह प्रेम और मृत्यु का मार्मिक संवाद है। ग्यारहवाँ पर्व उपलब्धि का पर्व है। सावित्री की विजय का, आत्मा के वरण-स्वातन्त्र्य का।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पाँच

कैसा महाकाव्य है यह? मनुष्य का? या अतिमानस के अवतरण का? जो भी रचनाएँ महाकाव्य की विधा में हमने पढ़ी हैं वे क्या हमें इसके लिए तैयार करती हैं? किन्तु है तो यह हमारी अपनी परम्परा ही! है तो इसका मूल महाभारत के एक प्रसंग में ही! यानी मृत्यु के स्वीकार का ही नहीं, मृत्यु के पार जाने का, मृत्यु को भी लांघने के असंभव से पुरुषार्थ का! और वह भी एक नारी के द्वारा! फिर भी यह बात कोई अजूबा तो नहीं है! समस्या के रूप में तो यह विषय-वस्तु हज़ारों वर्ष पहले भी विद्यमान थी!

परन्तु सावित्री दान्ते की 'डिवाइन कॉमेडी' की तरह रूपकथात्मक (अलेगोरिकल) होते हुए भी सिलसिलेवार कथा को प्रस्तुत करने और चरित्रों के चित्रण को, घटना-क्रम को महत्त्व देते हुए उभारने का वह पारम्परिक ढंग नहीं अपनाती। उसका मुख बाहर के तुमुल कोलाहल भरे घटनात्मक संसार की तरह नहीं, भीतर की तरफ और वह भी मनोविज्ञान जिस 'भीतर' को जानने का दावा करता है उस भीतर के भी भीतर की तरफ है। घटनाएँ हैं, चरित्र हैं, कथोपकथन, सुदीर्घ संवाद, पृष्ठभूमि, अन्तर्कथा इत्यादि भी सब हैं। किन्तु वे अपने-आप में महत्त्वपूर्ण या पाठक की कुतूहलवृत्ति को रमाने वाले नहीं हैं। कवि की दृष्टि पूरी तरह चेतना के उस 'एड्वेंचर' पर ही एकाग्र है जो मृत्यु के तमसावरण को भेदने के लिए प्रतिश्रुत है। कथा के हर अवयव का संयोजन उसी उद्देश्य, उसी साध्य को समर्पित है और इसके लिए जो साधना अभीष्ट है, प्राणों की साधना—मानो जीव-सृष्टि, विशेषकर मानव जीव की सृष्टि के साथ ही आरम्भ हो चुकी साधना। असली कथा उसी की है और सावित्री-सत्यवान् उसके निमित्त संवाहक, उसे चरम परिणति तक पहुँचाने की प्रक्रिया को वहन करने वाली अदम्य मानवीय अभीप्सा के जीवन्त प्रतीक हैं। चूँकि यह अदम्य अभीप्सा मानव की अवश्यंभावी नियति के रूप में पूर्वस्वीकृत और पूर्व नियत सी है अत: मानवीय भावनाओं के घात-प्रतिघात और संघर्ष, त्रासदी या कॉमेडी का वह ड्रामा भी यहाँ अप्रासंगिक हो जाता है जो मिल्टन और दान्ते के यहाँ हमें मिलता है। यहाँ जो 'ड्रामा' है वह वास्तविक मानव-जगत् और मानव-चरित्रों की क्षुद्रता या विलक्षणता पर अवलम्बित नहीं है। चेतना का निर्वैयक्तिक स्वभाव, दिक्-काल को अतिक्रांत करके चेतना की स्वयं को और चराचर जगत् को उसके मूलाधार पर ही पकड़ने-पहचानने और बदलने-रूपांतरित करने में ऐसी गहरी आस्था, ये पात्रों के चरित्रों की तरह हमारी दिलचस्पी या कुतूहल को जगाने और तृप्त करने वाले कैसे होंगे? यूं कथा हमें मालूम है और कवि ने इसी को क्यों चुना, यह भी हमें मालूम है। महाभारतकार के लिए भी कथा का मर्म-अभिप्राय महत्त्वपूर्ण था—यह भी हमारे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लिए, यानी महाभारत पढ़ चुके और इस प्रसंग को यथास्थान भली प्रकार स्वायत्त कर चुके पाठक के लिए स्पष्ट है। मूल प्रेरणा वहीं से आई है। तो भी, महाभारतकार जितनी देर और जिस तरह इस छोटे से उपाख्यान पर ठहरते हैं उसे देखते हुए यह कल्पना सचमुच कठिन है कि कोई कवि इसी को भविष्य में एक संपूर्ण महाकाव्य का विषय बनायेगा। सारी मार्मिकता के बावजूद न तो लोक-साहित्य में और न तथाकथित शिष्ट साहित्य में ही इस उपाख्यान को वह व्याप्ति और साहित्यिक प्रतिष्ठा मिली है जो अन्य उपकथाओं को मिली है। लोक में भी उसका प्रचार किसी महत् उद्देश्य से नहीं, मात्र पातिव्रत्य-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ और इस एक बात ने ही मानो हमेशा के लिए उसकी अर्थ-संभावनाओं को अवरुद्ध कर दिया—उसे एक बहुत ही तंग और ग़लत लीक पर डालकर। लोक में इस आख्यान की महिमा यहीं तक जड़ीभूत हो रही, मानो महाभारतकार का भी यही दृष्टिकोण रहा हो और पातिव्रत्य धर्म की महिमा दिखलाने को ही उसने इस कथा को नियोजित किया हो। आपाततः वैसा मानकर चलने का आधार वहाँ है भी। जिस जगह यह आख्यान नियोजित हुआ है उस प्रकरण में मूल कथा के प्रवाह में महत्त्व मूल कथा का ही बनता है, उपाख्यान पर एकाग्र होकर उसकी इतर संभावनाओं को विवृत करने की चुनौती उस तरह महसूस नहीं होती। उसका छुपा हुआ मर्म भी उस तरह उजागर नहीं होता। यह तो सृजन-प्रतिभा से सम्पन्न कोई परवर्ती कवि या नाटककार ही संभव कर सकता था जो उसे पहचान पाता और उस पहचान से इस कदर उन्मेषित हो पाता कि उस अर्थ के अन्मीलन में प्रवृत्त हो उसे अपनी कल्पना-शक्ति से एक महाख्यान का अवकाश और विस्तार रचते हुए चरितार्थ कर सकता। मुझे नहीं मालूम कि सावित्री के उपाख्यान ने परवर्ती युगों के किसी भी कवि या नाटककार को उस स्तर पर उन्मेषित किया या नहीं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, नहीं ही किया, अन्यथा कोई स्वतन्त्र कृति संस्कृत अथवा कालान्तर में विकसित हुई अन्य भारतीय भाषाओं में से किसी में तो जन्म लेती!

वैसा नहीं हुआ क्योंकि इस कथा की वस्तु में उस तरह वैसे भाव-वैविध्य, लौकिक उतार-चढ़ाव, संघर्ष आदि का कोई महत्त्व नहीं बनता। असली मर्म तो लौकिक कर्म-व्यापारों से परे सावित्री और यम के बीच जो कुछ घटित हुआ उसमें निहित है और वहीं नाटककार या कवि के लिए चुनौती खड़ी होती है, क्योंकि जो कुछ नाटकीय या मानवीय अनुभव सुलभ हैं वे तो जीवन और मृत्यु की देहरी के इस ओर ही सुलभ होते हैं। मर्त्यलोक ही साहित्य का उपजीव्य है। सारी कथा वहीं मृत्यु के साथ समाप्त हो जाती है। मगर इस कथा का तो सारा मर्म ही देहरी के उस पार मृत्यु के देवता के साक्षात्कार तथा सामान्य चेतना के सीमान्तों के पार घटित होने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वाले आत्मसाक्षात्कारी अभियान से ताल्लुक रखता है और वह सामान्य अनुभव से एकदम बाहर, एकदम परे की ही चीज़ है। कोई रचनाकार ऐसी 'वस्तु' को लेकर लिखे भी तो क्या और कैसे? यह नल-दमयन्ती की कथा तो है नहीं जो देश-देशांतरों में धूम मचाए। स्वर्ग और नरक की कथा तो यूं बाइबिल में भी मिलती है और मिल्टन तथा दान्ते सरीखे महाकवियों की कल्पना-शक्ति ने उसी में से नितान्त मौलिक मानवीय मार्मिकता से पूर्ण अर्थ-लोकों की सृष्टि भी कर दिखाई है। किन्तु आप दोनों महाकाव्यों का अध्ययन करें तो पायेंगे कि उन्हें ऐसे दैहिक-प्राणिक-मानसिक आलम्बन सुलभ हैं जो 'सावित्री' के आख्यान में संभव ही नहीं हैं। न इसमें शैतान का चरित्र खड़ा हो सकता है जिसमें मिल्टन स्वयं अपने जीवनानुभवों का और लौकिक आवेगों का आरोपण चमत्कारपूर्ण ढंग से कर सके। न ही इसमें दान्ते की तरह कवि के लिए वास्तविक इहलोक के जाने-माने दिवंगत चरित्रों की वास्तविक जीवनियों का मूल्यांकन करने की और स्वयं अपने नागरिक- राजनैतिक अनुभवों का दोहन करते हुए उनसे उबरने की छटपटाहट-भरी प्रेरणा ही काम आ सकती है। सावित्री की कथा के मर्म का नाटक खड़ा करने के लिए उस प्रकार की जीवनीगत या ऐतिहासिक सामग्री के उपयोग की कहीं कोई गुंजाइश नहीं। उस तरह की भावनात्मक-वैचारिक सामग्री वहाँ अप्रासंगिक है। उस मर्म में प्रवेश करने के लिए वह सूक्ष्म अनुभव-संपदा चाहिए, चेतना का वह जोखिम से भरा एड्वेंचर चाहिए जो कवियों-कलाकारों को सामान्यत: सुलभ नहीं हुआ करता और जिनकी उन तक पहुँच होती है। वे योगी और संत- बनते हैं, कवि-नाटककार नहीं बनते। उन्हें उस तरह चेतना के सीमान्तों के अलौकिक और अमूर्त अनुभवों को भाषानिबद्ध करके मानव-चेतना का अंग बना देने की कविसुलभ आकांक्षा नहीं व्यापती। न उस तरह की अभिव्यक्ति-क्षमता या भाषिक प्रतिभा ही उनमें होती है। अर्थात् इस आख्यान के मर्म को काव्याभिव्यक्ति देने की प्रेरणा भी उसी को हो सकती है और वैसी प्रेरणा को चरितार्थ भी वही कर सकता है जिसमें दो एकदम भिन्न क्षमताओं का असंभव-सा मेल हो—जिसमें उच्चकोटि की आध्यात्मिक प्रतिभा भी हो और उच्चकोटि की भाषिक सर्जना-शक्ति भी। लगता है जैसे सावित्री की कथा सदियों-सहस्राब्दियों से ऐसे ही विरल संयोग की प्रतीक्षा कर रही थी और श्री अरविन्द के रूप में उसे वह व्यक्ति-माध्यम मिल गया। श्री अरविन्द ने कथा-वस्तु का चुनाव नहीं किया बल्कि कथा-वस्तु ने ही श्री अरविन्द नाम की विभूति का वरण किया। अपने वास्तविक और सम्पूर्ण अर्थोन्मीलन हेतु।

वस्तुत: देखा जाय तो असली कथा तो एक ही दिन में घटित हो जाती है—वह दिन जिस दिन सत्यवान् की आयु पूरी होने वाली है। सत्यवान् इस त्रासदी से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनभिज्ञ है पूर्णत:। किन्तु सावित्री को तो पता है सब कुछ। अकारण नहीं कि जैसे ही पाठक प्रथम सर्ग पूरा करता है, अचानक और सर्वथा अप्रत्याशित ढंग से वह स्वयं को इस समापक पंक्ति के सम्मुख खड़ा पाता है—

''दिस वाज़ दि डे व्हैन सत्यवान् मस्ट डाइ''
(यह था वह दिन जब मृत्यु होगी सत्यवान् की)

पाठक अचकचा सा जाता है। पूरे सर्ग में अभी तक उसे मानव-जीवन के सामान्य सरोकारों की कोई भनक तक नहीं मिली थी। यह सत्यवान् एकाएक कहाँ से आ गया? और आया भी तो कैसे, क्यों? अपनी आसन्न, अवश्यंभावी मृत्यु को लेकर! तो क्या जहाँ इस लौकिक मर्त्य-मानव के लौकिक जीवन का अन्त है वहीं से यह महाकाव्य आरम्भ होने जा रहा है? कैसा आरम्भ है यह? नहीं, आरम्भ तो बहुत पहले हो चुका था—इस पंक्ति से—

''इट वाज़ दि आवर बिफोर दि गॉड्ज़ अवेक ...''
(यह थी वह घड़ी, जब अभी देवता भी नींद से नहीं जगे थे।)

तनिक इस अद्भुत विरोधाभास पर ध्यान दें। कहाँ देवताओं के जागरण से भी पहले के ब्राह्ममुहूर्त की घड़ी। और कहाँ उसी दिवस की अवसान-वेला में सत्यवान् की अवश्यंभावी मृत्यु का संकेत। क्या इसी विरोधाभास में मर्त्य-मानव के भीतर निहित अमरता की—जीवन में सनातन की खोज की—कथावस्तु का पूर्वाभास नहीं पढ़ा जा सकता?

अब, यहाँ से सीधे वहाँ आ जाएँ जहाँ महाकाव्य का लगभग समापन ही हो रहा है, अर्थात् अन्तिम (ग्यारहवें) सर्ग के उपसंहार पर, जहाँ कथा लगभग पूरी हो चुकी है। क्या कह रही हैं ये पंक्तियाँ—

'अ की टर्न्ड इन अ मिस्टिक लॉक ऑव टाइम
बट व्हैर दि साइलेंस ऑव दि गाड्ज़ हैड पास्ड
अ ग्रेटर हार्मनी फ्रॉम दि स्टिलनेस बॉर्न
सर्प्राईज्ड विद ज्वॉय एण्ड स्वीटनेस यर्निंग हार्ट्ज़
ऐन एक्स्टेसी ऐंड लाफ्टर ऐंड अ क्राइ
अ पावर लीन्ड डाउन, अ हैप्पीनेस फाउण्ड इट्ज़ होम
ओवर वाइड अर्थ ब्रूडेड दि इन्फिनिट ब्लिस।'

''महाकाल के रहस्यमय ताले की कुंजी मिल गई है। जहाँ देवताओं का अभेद्य मौन पहरा दे रहा था वहाँ एक नूतन संगति और संगीत का आविर्भाव होने को है। उसी महामौन में से। अभीप्साकुल हृदयों में एक नई अभूतपूर्व आनन्दानुभूति का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संचार करती हुई। एक महासुख—हास्य-रुद्रन-समवेत/दिव्यता का अवलोकन—संभव करता है जो सुख अधिवास/सेता है पृथ्वी को उस पर/ छाया ब्रह्मानन्द।''

क्या यह अन्त उतना ही अमूर्त, उतना ही दुरूह पहेली जैसा नहीं लगता? कविता और अध्यात्म का संयोग क्या बिना इस रहस्यवादी कुहेलिका के अब भी संभव नहीं? परन्तु अभी अन्त कहाँ हुआ है कथा का? अभी तो आगे महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व की तरह एक और पर्व बाकी है। नहीं, पर्व नहीं, 'एपिलॉग' , यानी उपसंहार। और उसका शीर्षक स्वर्गारोहण के ठीक विपरीत 'पृथ्वी की ओर वापसी' है। आरम्भ की पंक्ति क्या कह रही है?

इस शब्द-युग्म पर ध्यान दें, 'अबिस्मल ट्रांस', (अतलान्त समाधि) क्या किस कदर अर्थगर्भित व्यंजना है इस पद की! सावित्री सचमुच ही विलक्षण, अभूतपूर्व नायिका है, विश्व साहित्य की, महाकाव्यों के इतिहास की भी पहली नायिका जिसकी भूमिका दान्ते की बिएत्रिचे से कहीं ज्यादा गहरी, अतुलनीय रूप में गहरी और विलक्षण है। इसलए कि उसमें स्त्री होते हुए भी स्त्री और पुरुष दोनों की एकीभूत अभीप्सा और उसकी पूर्ति की राह में पड़ने वाले सारे जोखम उठाने वाली शक्ति प्रकट हुई है। या यूं कहना होगा कि उसमें स्त्री तत्त्व की ऐसी पुंजीभूत ऊर्जा प्रकट हुई है जो सृष्टि की आधारशक्ति का ही प्रतीक बन गई है। जीती-जागती प्रतीक, जिसका कोई तुलनीय उदाहरण अभी तक के काव्य में नहीं मिलता। क्या सावित्री का पराक्रम, सावित्री का धृति-उत्साह-समन्वित चरित और कर्म किसी भी महाकाव्य के पुरुष-नायक (और महाकाव्यों के चरित नायक तो सदैव सर्वत्र पुरुष ही रहे हैं) के पुरुषार्थ से तुलनीय है? क्य वह पराक्रम और पुरुषार्थ की एक सर्वथा नई और अभूतपूर्व परिभाषा नहीं गढ़ देती है? 'अबिस्मल ट्रांस'! सचमुच ही क्या सावित्री ने और 'सावित्री' के सर्जक ने स्वयं मृत्यु के अतलान्त महागर्त पर ही समाधि लगाकर उस अँधेरे अज्ञात में छलांग नहीं लगा दी थी? जिसकी परिणति दिव्य जीवन के साक्षात्कार में ही होनी थी? सत्यवान् की मृत्युलोक से वापसी, उसका पुनरुज्जीवन मनुष्य मात्र के ही आमूलचूल रूपान्तरण और दिव्य जीवन का आश्वासन और प्रतीक बनकर उभरता है। और सावित्री?

नाउ इन हर स्पेसलेस सेल्फ रिलीज्ड़ फ्रॉम बाउण्ड्स
अननम्बर्ड इयर्स सीम्ड मोमेण्ट्स लौंग ड्रांन आउट

अब, उसकी उस दिग्विहीन, निस्सीम मुक्त आत्मा में
वर्षों का विस्तार प्रलम्बित पल-प्रतिपल सा।

इतना ही नहीं,

हर लाइफ वॉज़ डॉन्ज़ विक्टोरियस ओपनिंग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दि पास्ट ऐण्ड अनबॉर्न डेज़ हैड फाउंड देयर ड्रीम्ज़।

जीवन उसका — जयलक्ष्मी का उषा-अवतरण
विगत-अनागत के स्वप्नों की लब्ध पूर्णता।

महाकाव्य की एकदम प्रारम्भ की पंक्ति की याद आ जाती है। देवताओं के जागरण से पहले, ब्राह्म मुहूर्त से ठीक पहले का क्षण। अब यह सावित्री की दिक्-काल-मुक्त आत्मजयी आत्मा के क्षितिज पर भासती विजयिनी उषा के आविर्भाव का क्षण है और यही सावित्री का वास्तविक जीवन है, जिसमें अतीत और भविष्य के समस्त स्वप्नों का संगम घटित होने जा रहा है। सत्यवान् की पुनरुज्जीवित देह और आत्मा शिशु की तरह सावित्री के वक्ष में समाहित है। कितना सुंदर और सार्थक बिम्ब उकेरा है कवि ने!

लेन लाइक एन इन्फैंट स्पिरिट अनअवेयर
लल्ड ऑन दि वर्ज ऑफ टू कन्सेंटिंग वर्ल्ड्ज़

दो परस्पर संवादी संसारों के सम्मिलित सीमान्त पर मानो अभी-अभी जन्मे शिशु की तरह बेखबर सोई हुई सत्यवान् की पुनरुज्जीवित जीवात्मा का यह बिम्ब कितना कुछ कह देता है! हाँ, यह सचमुच 'सत्यवान्' के जागने की घड़ी है। पृथ्वी, उसका घर उसे वापस मिल गया है और उसकी चाहत का सार-सर्वस्व सावित्री भी। और जागने के क्षण में ही उसकी दृष्टि सावित्री की दृष्टि से, हाथ सावित्री के हाथों के स्पर्श से एक होकर अपनी संपूर्ण संज्ञा पा लेते हैं —

अवेक ही फाउण्ड हर आइज़
वेटिंग फॉर हिज़ एण्ड फैल्ट हर हैंड्स एण्ड सॉ
दि अर्थ हिज़ होम गिवन बैक टू हिम वन्स मोर
ऐण्ड हर मेड हिज़ अगेन, हिज़ पैशन्स ऑल

धरा-धाम उसका वापस मिल गया उसे फिर
और संगिनी भी — जो है सर्वस्व उसीके
प्राणों की चाहत का।

कैसा मार्मिक है वह संवाद जो अब मृत्युंजयी सावित्री और पुनरुज्जीवित सत्यवान् के बीच घटित होता है! सत्यवान् कहता है— "मुझे लग रहा है सावित्री, जैसे जाने कितने आश्चर्यलोकों की सैर करके लौटा हूँ मैं तुम्हारे साथ ... ।"

फॉर श्योर्ली आई हैव ट्रैवल्ड इन स्ट्रेंज वर्ल्ड्स
बाइ दी कम्पेनियन्ड।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बन्धु-बाँधव, जो उन्हें खोजते हुए वहाँ पहुँचते हैं और जानना चाहते हैं कि वे कहाँ भटक गये थे—क्यों लौटने में इतनी देर हुई उन्हें? सत्यवान् उत्तर देता है—''इससे पूछो, सावित्री से ! मैं कुछ नहीं जानता, यही है सब कुछ का कारण !''

महाकाव्य का समापन जिस दृश्य से होता है वह हमें मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' के अन्तिम पंक्तियों के मार्मिक बिम्ब की याद दिलाता है। आदम और ईव की तरह एक-दूसरे का हाथ पकड़े सत्यवान् और सावित्री चिरपरिचित पृथ्वीलोक में अपने घर की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। किन्तु दोनों बिम्बों के बीच अन्तर है—मूलभूत अन्तर। मिल्टन के यहाँ आदम और ईव स्वर्ग से निष्कासित होकर पृथ्वी को प्रस्थान कर रहे थे जबकि सत्यवान् और सावित्री—प्रदीप्त मशालों के बीच से गुजरता हुआ यह नर-नारी युग्म—दिव्य जीवन के साक्षात्कार का वरदान लेकर अपने घर लौट रहा है—

डीप गार्डेड बाइ हर मिस्टिक फोल्ड्स ऑव लाइट
ऐण्ड इन हर ब्रूज़म नर्स्ड अ ग्रेटर डॉन ...

संगोपित वह अपने ही आलोक-वलय में
और, संजोए हुए हृदय में
एक महत्तर, ज्योतिष्मती उषा को।

एम-4, निराला नगर
भदभदा रोड, भोपाल-462003

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार तथा मंगला पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection